विश्व-निरक्षरता

मरिया मोन्तेस्सोरी

अंग्रेजी अनुवाद : ए.एम. जूस्टन
हिन्दी अनुवाद : गुमानमल जैन

संपादन : रमेश थानवी

विश्व-निरक्षरता | मरिया मोन्तेस्सोरी

ेस्सोरी बाल शिक्षण समिति
ादेसर 331802 (चूरू) राजस्थान

पढ़े-लिखे लोगों, बड़े-बुजुर्गों और तथाकथित शिक्षाविदों के दिमाग बालकों के प्रति बहुत सारे पूर्वग्रहों से भरे हुए हैं। वे तमाम लोग बच्चों को अबोध समझते हैं, कच्ची माटी समझते हैं और बल-बुद्धि से बहुत कमजोर समझते हैं। ये पूर्वग्रह बहुत बार दुराग्रहों में बदलते रहते हैं और इन्हीं दुराग्रहों से घिरे हुए शिक्षाविद् बालकों पर निरंतर अत्याचार करते रहते हैं। बालक घर में भी इन्हीं पूर्वग्रहों से घिरा रहता है और स्कूलों में भी रोजना प्रताड़ित किया जाता है। ऐसे तमाम पूर्वग्रहों की विवेचना मरिया मोन्तेस्सोरी इस किताब में करती हैं और पुरजोर तरीकों से बालकों की पैरवी करते हुए समझाती चलती हैं कि बालक स्वयं जन्म से ही दिव्यांकुर है और अपना विकास और अपनी शिक्षा स्वयं करने में समर्थ है। दुनिया के तमाम बालक संवेदनशील हैं, जन्म से ही प्यार-दुलार और नफरत में फर्क कर सकते हैं और आंख, नाक और कान के खुलने के साथ-साथ ही वे सीखने में लगते हैं।

मां मोन्तेस्सोरी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा दर्शन में पग-पग पर यह हिदायत दी जाती रही है कि न तो माता-पिताओं को बालकों के प्रति क्रोधित होना चाहिए और न शिक्षकों को। मोन्तेस्सोरी वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्ध करती हैं कि सारे पूर्वग्रह हमारी भ्रांतियों पर आधारित है। साथ ही हमारी नासमझी भी उसका कारण है। वैसे भी हम अपने राग से, लोभ से, मोह से और स्वार्थ से घिरे होने के कारण बालकों के चित्त-मन का उजास नहीं देख सकते। काश! ऐसा होता कि हम मां मोन्तेसोरी की तरह बाल दर्शन में कोई दिव्य दर्शन कर सकते और तब दुनिया के सारे बालक हमारी गिरफ्त से दूर उन्मुक्त वातावरण में अपना विकास कर सकते।

यह पुस्तक विश्व निरक्षरता पर बात करती है और ऐसा करते हुए भी यह मां मोन्तेस्सोरी साक्षरता को नये सिरे से परिभाषित करती है। पूरी किताब में जगह-जगह पर बालकों के जीवन में अक्षरों और अंकों की निरर्थकता पर भी मां मोन्तेस्सोरी टीका-टिप्पणी करती चलती है। किताब पुरानी है मगर आज भी उतनी ही प्रासंगिक। क्योंकि आज भी मनुष्य समाज में सच्ची साक्षरता को पहचानने को तैयार नहीं है। हर घर एवं हर स्कूल के लिए यह पुस्तक अत्यंत पठनीय है और दूर-दूर तक पहुंचाने के लिए भी एक विचार प्रधान तोहफा है।

मादाम मरिया मोन्तेस्सोरी

शिक्षा जगत में एक बड़ा नाम है। पूरी दुनिया के बालकों को प्रेम करने वाली एक ममतामयी मां का नाम। मोन्तेस्सोरी इटली की रहने वाली थीं और पेशे से मेडिकल डॉक्टर थी। उस जमाने में स्त्रियों को डॉक्टर नहीं बनने दिया जाता था। मोन्तेस्सोरी को भी एक बार मेडिकल कॉलेज में दाखिले के लिए मना कर दिया गया था। मोन्तेस्सोरी अपनी जिद से डॉक्टर बनी थी और प्रारंभ से ही उन्होंने विमंदित बच्चों की शिक्षा शुरू की थी। मासूम और असहाय बच्चों की संगत में मोन्तेस्सोरी की ममता निखरती रही और वे अपने अनुभवों की आंच में तपकर कुंदन बनकर विश्व प्रसिद्ध शिक्षाविद् बन गयी। मोन्तेस्सोरी के लिए दुनिया का कोई भी बालक न तो अबोध है और न ही कच्ची मिट्टी जिसे हम अपने हाथों से गढ़ सकते हैं और उसे अपनी मनमर्जी के मुताबिक कोई भी शक्ल दे सकते हैं।

मां मोन्तेस्सोरी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा दर्शन में पग-पग पर यह हिदायत दी जाती रही है कि न तो माता-पिताओं को बालकों के प्रति क्रोधित होना चाहिए और न शिक्षकों को। मोन्तेस्सोरी वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्ध करती हैं कि सारे पूर्वग्रह हमारी भ्रांतियों पर आधारित है। साथ ही हमारी नामसझी भी उसका कारण है। वैसे भी हम अपने राग से, लोभ से, मोह से और स्वार्थ से घिरे होने के कारण बालकों के चित्त-मन का उजास नहीं देख सकते। काश! ऐसा होता कि मां मोन्तेस्सोरी की तरह हम बाल-दर्शन में कोई दिव्य-दर्शन कर सकते और तब दुनिया के सारे बालक हमारी गिरफ्त से दूर उन्मुक्त वातावरण में अपना विकास कर सकते।

रमेश थानवी

फलौदी, राजस्थान में 1945 में जन्में रमेश थानवी स्नातक दर्शनशास्त्र में है लेकिन पत्रकारिता से होते हुए पेशे के तौर पर अनौपचारिक शिक्षाकर्म को ना केवल अपनाया बल्कि आजीवन उसी में रम गये। इसी काम से विदेश यात्राएं कीं; बच्चों, किशोरों और बड़ों के लिए अनेक पुस्तकों का सृजन भी किया है। वर्तमान में वे राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के अध्यक्ष हैं।

विश्व-निरक्षरता

❐

मूल लेखक : मरिया मोन्तेस्सोरी

अंग्रेजी अनुवाद : ए.एम. जूस्टन
हिन्दी अनुवाद : गुमानमल जैन

हिन्दी संस्करण का संपादन
रमेश थानवी

प्रकाशक :
मोन्तेस्सोरी बाल शिक्षण समिति
राजलदेसर (चूरू) द्वारा
गिजुभाई फाउण्डेशन
9 अमरतल्ला लेन
कोलकाता 700001
के सहयोग से प्रकाशित

ISBN 978-81-906792-1-3

प्रथम संस्करण : 2019 ई.

मूल्य : दो सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

VISHWA-NIRAKSHARATA by Maria Montessori
Hind Translated by Gumanmal Jain
Edited Hindi version by Ramesh Thanvi ₹ 250

अनुक्रम

खण्ड एक

पूर्वग्रह और नीहारिका

भूमिका

विरोधाभास

लगभग पांच दशक पूर्व हमने अपना कार्य शुरू किया। 1907 में प्रथम '**बालगृह**' का उद्घाटन हुआ और उसके तुरंत बाद हमारे विचार, जो बाल-शिक्षा से संबंधित थे, सारे संसार में फैलने लगे। बीच के वर्षों में दो यूरोपियन युद्धों एवं विश्वयुद्ध के कारण आया भूचाल भी इस शैक्षिक आंदोलन को नष्ट नहीं कर पाया, जिसने कई देशों में अपनी जड़ें जमा ली थी।

ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, त्यों-त्यों बाल-शिक्षा की महत्ता के बारे में हमारे विचार दृढ़ होते गये। हमने इसको (अपने प्रयासों को) नया जीवन देने का प्रयास किया, ताकि आधुनिक समाज के पुनर्निर्माण का यह एक प्रभावी माध्यम बन सके। ऐसा करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि इतिहास में अंकित इन युद्धों ने आधुनिक समाज को विकृत कर रखा है।

मैं ऐसा सोचती हूं कि मानों हम एक बड़े परिवार को संबोधित कर रहे हैं और चाहते हैं कि वह हमारे द्वारा खोजे गये मार्ग पर चले। हालांकि यह मार्ग नया और सक्रियता वाला है, फिर भी विश्वास और आशा का केन्द्र है।

इन पृष्ठों में मैं अपने कार्य के बारे में निर्देश देना चाहूंगी। आखिर इस बारे में यहां इतनी कठिनाइयां क्यों हैं? साथ ही, इतने विरोधाभास और अनिश्चितता की बातें भी क्यों हैं? ये सब उनके बारे में है, जिन्हें '**मोन्तेस्सोरी** विद्यालय' और '**मोन्तेस्सोरी** पद्धति' कहा जाता है। इतना सब होने पर भी यानी इस बारे में उपजी गलतफहमियों और इन कठिनाइयों के बावजूद हमारे विद्यालय निरंतर प्रगति कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वे दूर-दूर के क्षेत्रों तक पहुंच रहे हैं। वे **हवाईद्वीपों** में **होनोलुलु**, **ग्रीनलैंड** में और **भारत** में विद्यमान हैं। क्यों वे **नाइजीरिया** और **श्रीलंका** के लोगों में पाये जाते हैं? वास्तव में वे दुनिया के सभी भागों और लोगों के बीच प्रासंगिक और उपयोगी हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या ये विद्यालय, जो अफ्रीका के और भारत के लोगों के द्वारा ग्रामीण पिछड़े क्षेत्रों में चलाये जा रहे हैं, या फिर सर्वाधिक विकसित राष्ट्रों में हैं, तो क्या ये अपने-आप में संपूर्ण हैं? विशेषज्ञ कहते हैं कि यह बात तो

नहीं है पर उनमें अनेक अच्छे विद्यालय हैं। फिर भी वे सब इस बात पर सहमत हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में **मोन्तेस्सोरी** पद्धति अन्य आधुनिक पद्धतियों से अधिक विस्तार पा चुकी है। यूं भी उसकी लोकप्रियता को किस तरह समझाया जाय, जबकि इसके नाम को काम में लेने वाले कई विद्यालय पूर्ण नहीं कहे जा सकते। इसी तरह इस तथ्य को कैसे समझाया जाय कि कई राष्ट्रों ने अपने शैक्षणिक कानूनों में परिवर्तन कर लिया है ताकि वे **मोन्तेस्सोरी** पद्धति को लागू करने में बाधक न बनें। फिर इस क्षेत्र में यह पद्धति इतना प्रसार कैसे पा गई, जबकि न तो कोई प्रचार अभियान चलाया गया (कुछ नियमित कार्य—समीक्षा) और न कोई संगठित संस्था पूरे प्रशासन ढांचे के साथ कार्य ही कर रही है। इस तरह यह पद्धति इन सबसे वंचित है, फिर भी यह हवा में फेंके गये बीजों की तरह तेजी से प्रसार पा रही है।

यहां एक दूसरा विरोधाभास भी है। यह पद्धति अहंकारयुक्त लगती है क्योंकि यह अपने रास्ते पर ही चलना चाहती है और दूसरी किसी पद्धति से मिलना पसंद नहीं करती है। इतना होने पर भी **इसके अतिरिक्त कोई दूसरी पद्धति नहीं है जो इसकी तरह विश्व की एकता और विश्वशांति को अपने में आत्मसात् करने के हर संभावित अवसर से जुड़ने का प्रयास करती है।**

ये सब विरोधाभास तो हैं ही, साथ में रहस्यपूर्ण भी।

आजकल शिक्षा के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण विचारधाराएं तथा व्यक्तित्व विद्यमान हैं। यह नया शैक्षणिक सहयोग है जो **मोन्तेस्सोरी** पद्धति तथा अन्य पद्धतियों में परस्पर सामञ्जस्य तथा जुड़ाव पैदा करने की इच्छा रखता है। नई पद्धतियों में निरंतर नयों का प्रवेश भी होता रहता है। इस निर्णायक कदम को प्रत्येक स्थान पर बाल-शिक्षा के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न तरीके से कार्य करने वालों के बीच सामञ्जस्य बैठाने के रूप में देखा जाता है। इस तरह एक व्यापक प्रवृत्ति काम कर रही है जो अलग-थलग जा पड़ी। हमारी पद्धति के अकेलेपन को तोड़ती है। इससे विद्यार्थियों और वैज्ञानिकों को इस पद्धति को समझकर इसकी सराहना करने का अवसर मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इससे **मोन्तेस्सोरी** पद्धति वाले शिक्षकों को मिलने वाले प्रशिक्षण के विस्तार और उसमें सुधार लाने में सहायता मिलती है। मैं इस बात को जानती हूं कि जिन्होंने इस पद्धति के लिए अपने जीवन को समर्पित कर रखा है, उनमें से अनेकों को अब सहयोग की समस्या का सामना करना पड़ रहा है।

इस पद्धति के बारे में एक अद्भुत तथ्य यह भी है कि यद्यपि यह पद्धति मूलरूप से पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के लिए तैयार की गई थी, लेकिन अब यह न केवल प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर, यहां तक कि विश्वविद्यालय स्तर पर प्रवेश पा चुकी है।

हालैंड में पांच मोन्तेस्सोरी शिक्षा-केन्द्र हैं। इनका परिणाम इतना संतोषजनक रहा कि वहां की सरकार ने न केवल उन्हें अनुदान ही दिया, अपितु अन्य शिक्षा-केन्द्रों के समान मान्यता तथा कार्य करने की स्वतंत्रता भी दे दी है। मैंने **फ्रांस** में एक निजी **मोन्तेस्सोरी** शिक्षा-केन्द्र देखा, जहां पर विद्यार्थियों को अपने व्यवहार में अन्य फ्रेंच केन्द्रों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी और उन्हें परीक्षाओं का कम डर लगता था। इधर **भारत** में कई इस निर्णय पर भी पहुंचे हैं कि मोन्तेस्सोरी पद्धति विश्व-विद्यालय के लिए एक आवश्यकता बन गई है।

इस तरह विपरीत दिशा में भी **मोन्तेस्सोरी** पद्धति ने विकास पाया है और तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों पर भी इसे लागू किया गया है। श्रीलंका में तो दो वर्ष के बच्चों को भी हमारे विद्यालयों में प्रवेश दिया जा रहा है। जबकि माता-पिता डेढ़ वर्ष के बच्चों को प्रवेश देने का अनुरोध करते हैं। **इंग्लैंड** में बहुत-से शिशु-पालनाघर हमारी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं और **न्यूयार्क** में तो **मोन्तेस्सोरी** शिशु पालनाघर* खुल गये हैं।

तो फिर यह पद्धति आखिर है क्या, जो नवजात शिशुओं से शुरू होकर अंडर ग्रेजुएटों (पूर्व-स्नातकों) तक विस्तार पा रही है। अन्य पद्धतियों का इतना बड़ा कार्य नहीं है।

उदाहरण के लिए **फ्रोबेल** पद्धति केवल विद्यालय जाने से पहले वाले बच्चों तक ही सीमित है। **पेस्तोलॉजी** द्वारा अनुप्राणित पद्धति प्राथमिक विद्यालयों पर ही लागू होती है। इधर **हर्बर्ट** पद्धति मुख्य रूप से प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों को ही अपने में समेटती है। आधुनिक पद्धतियों में **डिक्रोली** मुख्य रूप से प्राथमिक विद्यालयों तथा **डाल्टन** माध्यमिक विद्यालयों को अपने अंतर्गत लेती है। परंपरागत पद्धतियों में निश्चित रूप से परिवर्तन आया है, लेकिन वहां भी एक कक्षा का शिक्षक अन्य श्रेणियों को पढ़ा नहीं सकता। माध्यमिक विद्यालय के शिक्षक को पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों में अपनाये गये तरीकों की जरा भी चिंता नहीं होती। शिशु-पालनाघरों में अपनाये जाने वाले तरीकों की चिंता तो उसे और भी कम होती है। यद्यपि प्रत्येक चरण स्पष्ट रूप से परिभाषित है और पद्धतियां, जो आजकल सीमित हैं, हालांकि इनकी श्रेणियां भी निर्धारित हैं।

---

* **रोम** में एक ट्रेनिंग इंस्टीट्यूशन की स्थापना आखिरी युद्ध में हुई थी, जहां इस सबसे महत्त्वपूर्ण चरण के मनोवैज्ञानिक अवलोकनों से **डॉ. मोन्तेस्सोरी** द्वारा विकसित सिद्धांतों के मुताबिक, शिशु के जन्म के लिए प्रशिक्षित प्रशिक्षुओं और जीवन के पहले कुछ वर्षों के दौरान प्रशिक्षित विकास किया गया था। देखें **मरिया मोन्तेस्सोरी : द एब्सोरबेंट माइंड।**

ऐसे शिक्षा-केन्द्रों के बारे में सोचना कि वे **फ्रोबेल** पद्धति को अपनायेंगे, स्पष्ट रूप से बेतुकी बात होगी। इसी तरह विश्वविद्यालय में नर्सरी पद्धति की हिमायत करना भी ऐसा ही होगा, यानी निरर्थक होगा।

तो फिर शिक्षा के सभी स्तरों पर **मोन्तेस्सोरी** पद्धति को लागू करने की बात क्यों गंभीर चर्चा का विषय बन गई है? फिर इसका क्या मतलब है? ऐसे में **मोन्तेस्सोरी** पद्धति क्या है, जिसके बारे में यह सब सोचा जा रहा है?

इसीलिए निरंतर इन सब की तुलना की जाकर उनकी समानताओं पर ध्यान दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी नर्सरी पद्धति के विद्यालयों की तुलना **मोन्तेस्सोरी** वाले विद्यालयों से की जा रही है। पहले तरह के विद्यालयों में काम में लिये जाने वाले खिलौनों और वहां के बच्चों के साथ होने वाले व्यवहार की तुलना दूसरे (**मोन्तेस्सोरी** पद्धति के विद्यालयों) से की जा रही है, जहां अन्य प्रकार की वस्तुएं तथा भिन्न प्रक्रिया अपनाई जाती है। ऐसे में दोनों के बीच किसी तरह का सामञ्जस्य और मेल-मिलाप कराया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में **फ्रोबेल किंडरगार्टन** और शिशुघरों के बीच समानांतर विशिष्टताओं का उल्लेख किया जाता है। **फ्रोबेल** तथा हमारी पद्धति की तुलना करते हुए इस बात की तरफ संकेत किया गया है कि दोनों सक्षम पद्धतियां हैं, अतः मिला-जुला उपयोग होना चाहिए।

इस मामले में दोनों के बीच परस्पर विरोधी कुछ बिन्दु हैं, जैसे परियों की कहानियों का प्रश्न, मिट्टी के साथ खेलना, यंत्रों का सही उपयोग तथा इसी तरह की अन्य बातें हैं, जिनके बारे में भी विचार-विमर्श अभी चल रहा है। साथ ही, प्राथमिक विद्यालयों में भी पढ़ाने के तरीके, पढ़ने-लिखने और गणित के बारे में विचार अब भी चल रहा है। रेखागणित और अन्य विषयों की पढ़ाई प्रारंभिक चरण में शुरू करने पर हमारे द्वारा दिये गये जोर ने एक बड़े विवाद को जन्म दे दिया है। माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षण को लेकर अलग-अलग राय दी जा रही है। ऐसे भी लोग हैं, जो यह सोचते हैं कि हम खेलों और अन्य प्रवृत्तियों पर विशेष बल नहीं देते, जो शैक्षणिक प्रवृत्तियों को आधुनिक रूप देती हैं। इसके लिए यांत्रिक तथा हस्त-कौशल को शुरू करने की आवश्यकता रहती है। उन प्रश्नों को विशेष महत्त्व दिया जाता है क्योंकि **मोन्तेस्सोरी** माध्यमिक विद्यालयों को उन कार्यक्रमों को अपनाना पड़ता है जो अन्य माध्यमिक विद्यालयों से स्वभावतः मेल खाता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय में प्रवेश ही नहीं मिल पायेगा और वे उससे वंचित रह जायेंगे।

संक्षेप में, हम अपने को एक भूलभुलैया में पाते हैं।

मोन्तेस्सोरी पद्धति क्या है?

कोई भी थोड़े-से, पर स्पष्ट शब्दों में यह जानना चाहेगा कि वास्तव में उसकी **मोन्तेस्सोरी** पद्धति है क्या?

यदि हमको न केवल अपना नाम, अपितु 'पद्धति' को हटाना पड़े और इसके साथ इसके सामान्य विचार भी, तो स्थिति अधिक साफ हो जायेगी। हमें मनुष्य के व्यक्तित्व को ध्यान में रखना है, न कि शिक्षा पद्धति को। हमें शब्द 'पद्धति' के स्थान पर कुछ ऐसा ही रखना होगा, जैसे 'मानव के व्यक्तित्व को अपनी स्वतंत्रता, प्राप्ति के लिए दी गई सहायता' या मनुष्य के व्यक्तित्व को शिक्षा के क्षेत्र में फैले शताब्दियों पुराने पूर्वग्रहों के उत्पीड़न से मुक्त होने के लिए उसकी प्रकृति के बारे में वैज्ञानिक मान्यता। उसके अधिकारों को सामाजिक स्वीकृति देने वाली घोषणा को शिक्षा के क्षेत्र में टुकड़ों में किये जाने वाले सुधारों का स्थान लेना चाहिए।

मनुष्य का व्यक्तित्व सभी मानवों से संबंधित है। यूरोपवासी, भारतीय और चीनी, सभी मनुष्य हैं। ऐसे में मानव के 'व्यक्तित्व' को निखारने में यदि कुछ आवश्यक स्थितियां सहायक बनती हैं तो वे सभी देशों के निवासियों को समान रूप से प्रभावित करती हैं और सभी से संबंधित भी हैं।

और यह 'मानव का व्यक्तित्व' क्या है? यह कहां से शुरू होता है? कहां पर एक मनुष्य एक मानव-प्राणी बन जाता है? इसका पता लगाना कठिन ही होगा। ओल्ड टैस्टामैंट के अनुसार मनुष्य एक वयस्क रूप में पैदा हुआ था। इधर न्यू टैस्टामैंट में ईसा एक बालक के रूप में दिखाई देता है। मनुष्य का व्यक्तित्व मूल रूप में वह है, जो विकास के अपने क्रमागत रूप में होता है। अतः हम जिस-किसी को मानव मानें और वह चाहे जिस आयु का हो। फिर चाहे वह प्राथमिक विद्यालय वाला बच्चा हो या किशोर, युवक और वयस्क, सब प्रारंभ में बच्चे ही होते हैं। फिर ये बचपन से बड़े बनते हैं और इसमें उनके व्यक्तित्व में कोई अंतर नहीं आता है और उनके व्यक्तित्व की एकता खंडित नहीं होती। यदि अपने विकास के सभी स्तरों पर मनुष्य का व्यक्तित्व एक ही रहता है, तो हमें ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन करना चाहिए जो सभी श्रेणियों के लिए सम्मान का भाव रखता हो।

हमारे अधिसंख्य पाठ्यक्रमों में हम वास्तव में **बच्चे को 'मनुष्य' कह कर पुकारते हैं।**

मानव, जो अनजाना है

शिशु के रूप में इस संसार में आने वाला मनुष्य सृष्टि के यथार्थवादी चमत्कार के कारण तेजी से विकास करता है। नवजात न तो भाषा जानता है और न उन विशिष्टताओं को, जो इससे मिलती-जुलती प्रथाओं को प्रतिबिंबित करती

हैं। उसके पास न तो बुद्धि होती है और न स्मृति व इच्छाशक्ति ही। न उसके पास घूमने-फिरने और अपने को खड़ा रखने की शक्ति होती है। फिर भी, यह नवजात सृष्टि के जीव की वास्तविकता को प्राप्त करता है। दो वर्ष की आयु में वह बोलता है, चलता है और अपने आस-पास के वातावरण में घट रही चीजों तथा लोगों को पहचानता है और **पांच वर्ष का होने पर वह पर्याप्त मानसिक विकास कर लेता है ताकि उसको विद्यालय में प्रवेश दिया जा सके।** इस तरह उसकी औपचारिक शिक्षा की शुरुआत हो जाती है।

आजकल का वैज्ञानिक जगत् दो वर्ष के बच्चे के मनोविज्ञान में बड़ी रुचि लेने लगा है जो उसके जीवन का प्रारंभिक काल होता है। हजारों-हजारों वर्षों तक मानव-जाति बच्चे की अनदेखी करती रही है और प्रकृति के इस चमत्कार से अप्रभावित भी रही है। मानव-व्यक्तित्व के बौद्धिक विकास का प्रारंभ निश्चय ही एक चमत्कार है। पर यह कैसे होता है? यह किस प्रक्रिया और किन नियमों की अनुपालना में होता है?

यदि पूरे विश्व का संचालन निश्चित नियमों के आधार पर होता है तो क्या यह संभव है कि मानव-मस्तिष्क का निर्माण आकस्मिक रूप से, अर्थात् बिना किसी नियम के हो गया!

विकास की प्रक्रिया में प्रत्येक चीज एक जटिल क्रमिक उन्नति की प्रक्रिया से गुजरती है। मनुष्य भी पांच वर्ष की आयु में, जबकि वह बुद्धिमान् व्यक्ति हो जाता है, निश्चय ही एक सकारात्मक उन्नति की प्रक्रिया से गुजरा ही होगा।

हमें यह तो मानना ही होगा कि अभी तक इस क्षेत्र में कोई खोज नहीं हुई। हमारे वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान में यह एक बड़ा अभाव है। यह अछूता क्षेत्र है और अनजाना तथ्य भी है। और यह रिक्तता व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया से संबंधित है।

इस तरह के अज्ञान के निरंतर बने रहने से सभ्यता के जिस स्तर को हमने प्राप्त किया है, इसके रहस्यपूर्ण कारण भी हो सकते हैं। ऐसा लगता है कि यह रहस्य तो पूर्वग्रहों के कारण कहीं छिपा हुआ है जिसे खोज निकालना कठिन है और जिस पर किसी तरह का आवरण पड़ा है। उस मानव-प्रेरणा के इस विस्तृत और अछूते क्षेत्र में वैज्ञानिक खोज शुरू करने से पहले, हमें इसमें आने वाली शक्तिशाली बाधाओं से पार पाना होगा। हम जानते हैं कि मानव-मन में एक तरह की पहेली बनी हुई है जिसे हमारे हित में अभी तक छुआ नहीं गया है, ठीक उसी प्रकार, कुछ समय पहले तक, जैसा कि हम जानते हैं कि दक्षिणी ध्रुव एक बहुत बड़ा बर्फीला क्षेत्र है। अंटार्टिका की खोज को बाद में हाथ में लिया गया और एक पूरा महाद्वीप, जो चमत्कारों और संपदाओं से युक्त है, हमारे मस्तिष्क के

क्षितिज पर उभर आया। उसके आश्चर्य, उसकी गर्म पानी की झीलें और उसका जीवधारियों का बड़ा समूह जिनके अस्तित्व की ही कोई संभावना नहीं थी, अब सबके सामने प्रकट हो चुके हैं। पर इन वास्तविकताओं को समझने के लिए, जो अब सबके सामने हैं, कितनी बाधाएं पार करनी पड़ीं। बर्फ के बहुत बड़े अवरोध को तोड़ना पड़ा और फिर जमाव बिन्दु वाले तापमान में, जो हमारे यहां के तापमान से एकदम अलग है, काम करना पड़ा। यही मानव-जीवन के ध्रुव प्रारंभिक बचपन के बारे में लागू होता है।

वयस्क को यह लगता है कि वह अज्ञात स्थान से यहां आया है। वह अपने जीवन के विभिन्न रूपों को परखता रहता है। ज्यों-ज्यों वे उसके सामने आते रहते हैं उसका प्रयास यह रहता है कि वह मानव-जीवन के क्रमिक चरणों—शिशु, किशोर, युवा आदि के अनुसार जीये, जो प्रायोगिक तथा सतही लगता है। वह एक बेढंगे किसान की तरह आकृतियों और परिणामों को देख कर ही अपनी राय बना लेता है। पर वह उन कारणों पर, जो उन्हें उत्पन्न करते हैं, चिंतन तक नहीं करता है। यह उचित ही है कि **फ्रोबेल** चार या पांच वर्ष के बच्चों के विद्यालयों को '**किंडरगार्टन**' का नाम देता है, अर्थात् यह बच्चों का उद्यान है। ऐसा तो सभी विद्यालयों को कहा जाना चाहिए, विशेष रूप से उन बेहतर विद्यालयों को, जहां बच्चों को लाभ पहुंचाने के गंभीर प्रयास किये जाते हैं और उनकी प्रसन्नता को प्रोत्साहन दिया जाता है। ये सब 'उद्यान' कहे जा सकते हैं। वास्तव में अच्छे तथा आधुनिक विद्यालयों में, जो **फ्रोबेल** के आदर्शों को मानते हैं, शिक्षक वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा एक अच्छा माली और किसान अपने पौधों का ध्यान रखता हो।

अच्छे किसान के पीछे फिर भी वह वैज्ञानिक होता है जो प्रकृति के रहस्यों को सामने लाता है। उसके प्रयोग न केवल इस बारे में अच्छा ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करते हैं, इनसे उसे पौधों के बारे में बेहतर जानकारी भी मिलती है। साथ में उसे उनको नये आकार में बदलने में भी काम में लिया जा सकता है। आज का किसान, जो आधुनिक पद्धतियों से फलों और फूलों की पैदावार को बढ़ाता है, जो वनों को खेतों में बदलता है और जो धरती के चेहरे को भी बदल डालता है, ऐसा हम कह सकते हैं, वह भी विज्ञान से ही तकनीकी जानकारी प्राप्त करता है। ऐसा वह परंपरागत तरीकों से प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह के अद्भुत फूल, जो अपने सौन्दर्य को बिखेरते हैं, वे सर्वोत्तम बगीचे, जिनमें बड़े-बड़े गुलाब अपनी सुगंध को तो बिखेरते ही हैं, पर कांटों-रहित हैं, इसी तरह अनेक फल और वे अद्भुत चीजें, जिन्होंने धरती का चेहरा बदल दिया है, वे सब मनुष्य के पौधे के जीवन पर किये गये वैज्ञानिक अध्ययन का ही तो परिणाम हैं। यह विज्ञान ही है, जिसने नई तकनीक दी

है। ये वैज्ञानिक ही हैं जिन्होंने वास्तव में 'सुपर-नेचर' के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिया जो उससे भी समृद्ध और सुन्दर है जिसे हम वन्य प्रकृति कहते हैं।

मानव का अध्ययन

यदि विज्ञान मनुष्य का अध्ययन प्रारंभ करे तो वह न केवल बच्चों तथा युवकों की शिक्षा के लिए नई तकनीक देने में सफल होगा, अपितु मानवीय और सामाजिक विचारों के बारे में समझ को बढ़ायेगा, जो अभी तक अज्ञात हैं।

शिक्षा और समाज में सुधार आज के समय की आवश्यकता है। मनुष्य, जो अनजाना है उसके वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित होना चाहिए यह सुधार।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, मनुष्य के वैज्ञानिक अध्ययन के मार्ग में बड़ी बाधा है। यह बाधा हजारों वर्षों के दौरान इकट्ठे हुए पूर्वग्रहों से बनी हुई है। यह न केवल ठोस, उतना ही भव्य औरं उतना ही पहुंच के बाहर है जितना हिमखंड होता है। ऐसे में एक साहसी खोज की जरूरत है जो एक तरफ से विपरीत तत्त्वों के विरुद्ध एक संघर्ष होगा और इसमें विज्ञान के सामान्य अस्त्र, जैसे जांच और प्रयोग पर्याप्त नहीं रहेंगे।

मनुष्य की शक्ति एवं उसके मनोविज्ञान का अध्ययन अब एक बौद्धिक आंदोलन में विकसित हो चुका है और इसका फैलाव 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हो चुका था। अप्रत्यक्ष की खोज विशेष रूप से फलदायी रही है। इसमें पहले तो उन वयस्कों से संपर्क हुआ जो मानसिक रोगों से पीड़ित थे और बाद में उसका विस्तार उन वयस्कों तक हुआ जिन्हें सामान्य समझा गया। अभी हाल में विज्ञान के विद्यार्थियों की रुचि बाल-मनोविज्ञान में होने लगी है। इन अध्ययनों के कारण जो निष्कर्ष सामने आये, वे बताते हैं कि प्रायः सभी मनुष्यों में, जो आज जी रहे हैं, कुछ-न-कुछ मानसिक अपूर्णता है। आंकड़े इसकी पुष्टि करते हैं और वे यह भी बताते हैं कि **पागलों और मनोरोगी अपराधियों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है।** वे यह भी बताते हैं कि **समस्या बने बच्चों की संख्या भी बढ़ रही है। इसी तरह किशोरों में अपराध बढ़ रहे हैं** जिनके कारण मानवता को पहुंचने वाली हानि गंभीर चिंता का विषय बन रही है। **यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी सभ्यता ने जो सामाजिक परिस्थितियां बनाई हैं, वे मानव के सामान्य विकास में बाधाएं उत्पन्न कर रही हैं।**

हमारी सभ्यता ने अभी तक **मानवीय चेतना की सुरक्षा** के लिए उस तरह के उपाय नहीं किये हैं जिस तरह के मनुष्य के शरीर के लिए प्राकृतिक स्वास्थ्य के द्वारा किये गये हैं। यद्यपि हम आजकल धरती की भौतिक संपदा एवं ऊर्जा का उपयोग और उस पर नियंत्रण करते हैं, पर उस सर्वोत्तम ऊर्जा, जिसका प्रतिनिधित्व

मनुष्य की प्रकृति की छिपी संभावनाओं को खोजा जा कर उनका अधिकतम दोहन किया जा चुका है। पर **मानव-अवचेतना के अथाह भंडार का अभी सूक्ष्म परीक्षण किया जाना बाकी है। मनुष्य को, जो चेतना वाला प्राणी है, बाहरी परिस्थितियों की दया पर छोड़ दिया गया है।** इतना ही नहीं, वह उस रास्ते पर है जो उसके स्वयं के निर्माण का नाश करने वाला है।

ऐसे में यह संभव है कि मानव-निर्माण के विश्वव्यापी आंदोलन को जन्म दिया जाय जो एक ही मार्ग का अनुसरण करता हो। इसका एकमात्र उद्देश्य होगा, मानव को उसका संतुलन बनाये रखने में अपने आत्मिक स्वास्थ्य और साथ ही वर्तमान बाहरी परिस्थितियों में एक सुरक्षित कवच के निर्माण में सहायता करना। यह आंदोलन न किसी एक राष्ट्र और न एक राजनीतिक प्रवृत्ति तक सीमित रहने वाला है, क्योंकि इसका उद्देश्य मानव-मूल्यों की प्राप्ति करना है। यही कारण है कि इसकी मुख्य दिलचस्पी सभी तरह के राष्ट्रीय और राजनीतिक मतभेदों से ऊपर उठ कर काम करना है।

पुराने विद्यालयों की विचारधारा, जहां पर उस पुराने समय के तरीके से सिखाया जाता है, हमारे यह नये आंदोलन के उद्देश्यों की दृष्टि से पूरी तरह अपर्याप्त है। उस आंदोलन की रूपरेखा ऊपर दी जा चुकी है।

शिक्षा अब सामाजिक और मानव-प्रयास बन गया है जिसमें सब की रुचि है। यह मनोविज्ञान पर आधारित होनी चाहिए ताकि बच्चे के व्यक्तित्व की सुरक्षा की जा सके। इतना ही नहीं, हमारी सभ्यता की समझ के अनुरूप उसका नवीनीकरण भी होना चाहिए। जिससे परिस्थितियों के कारण हुई अव्यवस्था के विरुद्ध व्यक्तित्व की सुरक्षा हो सके। इससे वह अधिक मानवीय बनकर उस सभ्यता को, जिसकी आज हमें आवश्यकता है, प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज ऐसे पाठ्यक्रम की आवश्यकता है जिसमें आधुनिक समाज में मनुष्य की जो स्थिति है, उसकी समझ हो। साथ ही इतिहास के विश्वव्यापी दृष्टिकोण और मानव के क्रमिक विकास की समझ बढ़ाता हो। आज के समय में शिक्षा के उद्देश्य की कैसे प्राप्ति हो सकती है जब तक मनुष्य को उसके आस-पास के वातावरण का ज्ञान न हो, क्योंकि उसे उसी वातावरण में तो अपने को ढालना है।

अंततः **शिक्षा की समस्या को भी प्रकृति के नियमों के अनुसार ही सुलझाना होगा।** ये नियम शाश्वत नियमों से ही तो बनते हैं जो मनुष्य-जीवन के निर्माण को संचालित करते हैं। फिर ये ही नियम धरती पर होने वाले क्रमिक विकास के मार्ग में समाज को ले जाने वाले परिवर्तित नियम बनते हैं।

इन प्राकृतिक नियमों के प्रति आदर की भावना बुनियादी बात है। जब हम इन नियमों को आधार मानते हैं तब अत्यधिक मानवीय कानूनों की जांच कर के उनमें संशोधन किये जा सकते हैं। मानव द्वारा बनाये गये ये नियम तात्कालिक बाहरी सामाजिक निर्माण से संबंधित होते हैं।

हमारा सामाजिक वर्तमान

यह सभी जानते हैं कि हमारे वातावरण में हुई अद्भुत उन्नति और मनुष्य के विकास में रही कमियों की रुकावट में कोई संतुलन नहीं है। इससे सभी परिचित हैं कि मनुष्य को अपनी आस-पास की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में बड़ी कठिनाई होती है और वह इस प्रक्रिया में कष्ट पाता है और उसकी हालत बदतर होती है। हम बाहरी प्रगति की शक्तियों की तुलना शक्तिशाली राष्ट्रों से कर सकते हैं जो दूसरों पर आक्रमण करते हैं और कमजोर को कुचल देते हैं और ऐसा ही बर्बर युद्धों में होता है। पराजित को गुलाम बना लिया जाता है।

आज मनुष्य पराजित हो गया है और अपने ही वातावरण का दास बन चुका है, क्योंकि वह उस वातावरण की तुलना में अपने को कमजोर पाता है।

यह गुलामी अब तेजी से बढ़ रही है और ऐसे तरीकों में बदल रही है जैसी कि पहले शक्तिशाली व विजयी लोगों और निर्बल एवं पराजित के बीच हुए संघर्ष में कभी नहीं देखी गई। इससे पहले मनुष्य कभी इतना असहाय नहीं हुआ था जैसा कि वह आज है। बात यह है कि आज उसकी असहायता चरम सीमा पर पहुंच चुकी है।

क्या हम यह नहीं देखते हैं कि आज कुछ भी सुरक्षित नहीं है? बैंकों में जमा धन भी विभिन्न तरीकों से अचानक लुप्त होकर पुनः प्राप्ति के योग्य नहीं रह जाता है। इस तरह उसका जमाकर्ता उस धन से वंचित रह जाता है। तो क्या फिर उसकी सुरक्षा के लिए उसे गुप्त स्थानों पर छिपाने का वैसा ही प्रयास होना चाहिए जैसा कि मध्यकाल में होता था? इस बीच उसका मूल्य ही समाप्त हो सकता है यदि उसे (मुद्रा के) चलन से बाहर कर दिया जाये। एक देश की मुद्रा दूसरे देशों में नहीं चलती है और न ले जायी जा सकती है। यहां तक कि एक धनी व्यक्ति अपनी पसंद के देश में जा नहीं सकता क्योंकि वह अपने साथ देश के बाहर अपना धन और हीरे-जवाहिरात नहीं ले जा सकता। फिर सीमा चौकियों पर दुर्व्यवहार का खतरा है, जहां लोगों को नंगा किया जाता है और उनकी तलाशी ली जाती है मानों किसी की संपत्ति चुरा ली गई हो। कोई भी व्यक्ति (वैध) पासपोर्ट होने पर ही दूसरे देश की यात्रा कर सकता है। आज तो पासपोर्ट परेशानी का कारण बन गया है जबकि प्रारंभ में यह सुरक्षा प्रदान करने के लिए था। यहां तक कि अपने ही देश में हर व्यक्ति को, विशेषकर युद्ध के समय, पहचान पत्र रखना पड़ता है जिसमें उसका

फोटो व अंगुलियों के निशान होते हैं, ऐसे तो पहले वाले समय में अपराधियों पर भी यह चीज थोपी नहीं जाती थी।

ऐसा भी हुआ है कि जीवन के लिए अनिवार्य चीजों की प्राप्ति के लिए भी कूपन जारी किये जाते थे जिनके बिना उनको नहीं खरीदा जा सकता था। ये कूपन भी निश्चित अवधि के लिए होते थे। यहां तक कि रोटी खरीदने के लिए (कुछ देशों में) कूपन जारी होते थे। इस तरह की चीजें पहले कभी सुनी भी नहीं गई थी। भिखारी भले ही इसके अपवाद रहे होंगे।

आज के समय में किसी का जीवन सुरक्षित नहीं है। किसी भी बेहूदी लड़ाई में, जो कभी शुरू की जा सकती है, स्त्रियां और बच्चे, युवा व बूढ़े सभी मनुष्य सतत खतरे में रहते हैं और उनकी मौत कभी भी हो सकती है। नागरिकों पर बम बरसाये जाते हैं और उन्हें भूतल में बनाये गये आश्रय स्थलों में शरण लेनी पड़ती है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसा कि पहले के लोग वन्य जीवों से बचने के लिए गुफाओं में शरण लेते थे। अन्न की आपूर्ति भी रोकी जा सकती है और लाखों लोग प्लेग व अकाल से मर भी सकते हैं। क्या हम लोगों को फटे कपड़ों और यहां तक कि ठंड में नंगे भी नहीं देखते हैं? ऐसे में वे मरते भी हैं। ऐसी परिस्थितियों में परिवार तो बिखरते ही हैं और अलग-थलग भी पड़ जाते है। बच्चों का बिछुड़ना भी संभव है जो वन्य जीवों की तरह इधर-उधर भटकते रहते हैं।

ऐसा हम देखते हैं न केवल लड़ाई में पराजितों के बीच, अपितु सब जगह यही हाल है। मानवता स्वयं पराजित हो रही है और गुलाम बनाई जा रही है, पर केवल गुलामी ही क्यों? क्योंकि सभी, चाहे वे विजयी हुए हों या पराजित, गुलाम हैं, असुरक्षित हैं, भयभीत हैं। संदेहशील हैं और विरोधी हैं। ऐसे में उन्हें जासूसी करने और गिरोह के रूप में संगठित होना पड़ता है ताकि वे अपनी रक्षा कर सकें। इस तरह अनैतिकता को सुरक्षा का माध्यम बनाना और थोपना पड़ता है। इस तरह ठगाई और डकैती परिवर्तित रूप में दिखाई देती हैं। जहां पर प्रतिबंध एक बेहूदा स्तर तक पहुंच जाते हैं वहां ये तरीके अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आवश्यक समझ लिये जाते हैं। तब दुष्टता, वेश्यावृत्ति और हिंसा आदि भी जीवन के सामान्य अंग बनते दीखते हैं। ऐसे में आध्यात्मिक और बौद्धिक मूल्य अपना प्रभाव खोते दीखते हैं जो कभी मानव-समाज को सम्मानित करते रहे हैं। अध्ययन शुष्क और उबाऊ लगता है और वह अपना स्तर ऊंचा उठाने का प्रभाव खो बैठता है। उसे केवल रोजगार प्राप्त करने का माध्यम मान लिया जाता है। यह रोजगार भी अनिश्चित और असुरक्षित होता है।

यह चकित करने वाली बात है कि दासता के अनके तरीकों के बावजूद मानवता की तोता-रटन्त निरंतर जारी है कि वह न केवल स्वतंत्र है अपितु स्वाधीन भी है। ये दयनीय एवं अपमानित लोग अपनी सर्वोच्चता की उद्घोषणा भी करते रहते हैं। ये अभागे लोग किस बात पर इतराते हैं। जिसे वे लोकतंत्र कहते हैं और उसको सबसे अच्छा मानते हैं उस लोकतंत्र में लोग अपनी राय तो दे सकते हैं कि शासन कैसा हो? वे चुनावों में मतदान भी कर सकते हैं। यह कैसा व्यंग्य है कि वे अपने शासकों को चुनते हैं, लेकिन जो शासन करते हैं वे किसी को बंधन से मुक्त नहीं कर सकते। ये बंधन सभी को बांधते हैं और जो सभी प्रवृत्तियों तथा पहलों को निरर्थक कर देते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने को बचाने के लिए कुछ भी नहीं कर सकते हैं। इस तरह असहाय हो जाते हैं।

इसमें एक रहस्यपूर्ण पहचान भी है जो सबसे प्रमुख बन जाती है। **यहां अत्याचार करने वाला बड़ा शक्तिशाली होता है मानों वह ईश्वर हो। यह तो परिस्थितियां हैं जो सब-कुछ निगल जाती हैं और मानव को कुचल देती हैं।**

कुछ दिन पहले एक यंत्रीकृत बेकरी में काम करने वाले एक युवा मजदूर का हाथ मशीन के चक्कों के बीच फंस गया और शीघ्र ही उसका सारा शरीर उसकी चपेट में आकर वह लुगदी में बदल कर रह गया। क्या यह बात इस का संकेत नहीं है कि मनुष्य किन परिस्थितियों में काम करता है और अनजाने में दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है? परिस्थितियों की तुलना उस भीमकाय इंजन से की जा सकती है जो काल्पनिक रूप से खाने की चीजें तैयार करता हो और उसमें फंसा मजदूर, जो असावधान तथा अदूरदर्शी मानवता का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, उसके द्वारा न केवल पकड़ लिया जाता है, अपितु कुचल भी दिया जाता है। ऐसे में वह मनुष्य को बहुलता के नाम पर क्या देने वाला है? यहां हम असंतुलन के उस पहलू को देखते हैं जो मनुष्य और उसकी परिस्थिति के बीच बना हुआ है। इससे छुटकारा पाने के लिए मानवता को अपने संसाधनों को मजबूत करने, अपने मूल्यों का विकास करने और अपने पागलपन का इलाज कराने का प्रयास करना चाहिए। यही क्यों, उसे अपनी शक्ति का भी भान होना चाहिए।

मनुष्य को अपने सारे मूल्यों तथा अपनी ऊर्जा को इकट्ठा करके उन्हें विकसित करना चाहिए और अपने को मुक्त कराने की तैयारी में लग जाना चाहिए। यह वह समय नहीं है जब आपस में लड़ा जाय और एक-दूसरे को दबाया जाय या दबाने का प्रयास किया जाय। **हमें सिर्फ मनुष्य के बारे में सोचना चाहिए और उसको ऊंचा उठाने के लिए संघर्ष करना चाहिए।** ऐसा न करने से मनुष्य ने स्वयं अपने को व्यर्थ के बंधनों से बांध लिया है और जो उसे पतन की तरफ ले जा

कर पागलपन के गहरे गड्ढे में, जिसकी थाह ही नहीं है, गिरा रहे हैं, उन बंधनों से छुटकारा मिल सकता है। असली शत्रु तो मनुष्य की शक्तिहीनता है जो उसे अपने ही उत्पादों से लड़ने से रोकती है। यह मानवता के स्वयं के विकास को अवरुद्ध करना है। इस शत्रु को पराजित करने के लिए उसके विरुद्ध मनुष्य को अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी होगी। इसके लिए उसे परिस्थितियों के प्रति दूसरी तरह से व्यवहार करना होगा जो अपने-आप में समृद्धि और सुख का स्रोत हैं। **हमें आवश्यकता है एक विश्वव्यापी क्रांति की। यह क्रांति चाहेगी कि मनुष्य अपने मूल्यों को उन्नत बनाये और अपना मालिक स्वयं बने, बजाय दास बनने के।** अन्यथा वह उन परिस्थितियों का दास बना रहेगा जो उसने स्वयं ने पैदा की हैं।

नई शिक्षा का कार्य

ऐसा लग सकता है कि हम अपने असली विषय से काफी दूर हट आये हैं, जो शिक्षा है। यह विचलन फिर भी नये मार्ग को खोलेगा, जिस पर अब हमें चलना है। जिस तरह हम अस्पताल में रोगी को पुनः स्वस्थ होने में सहायता करते हैं ताकि वह अपने आगे का जीवन ठीक ढंग से जी सके, उसी तरह हमें अब मानवता को बचाने के लिए सहायता करनी होगी। हमें उस अस्पताल में, जो विश्व जितने ही विस्तार वाला है, नर्स का काम करना होगा यानी सेवा करनी होगी।

हमें यह समझना चाहिए कि यह जो प्रश्न है वह केवल विद्यालयों तक ही सीमित नहीं रह गया है जैसा कि आजकल मान लिया गया है। फिर यह केवल शिक्षा की पद्धतियों से भी संबंधित नहीं है। यह थोड़ा-बहुत व्यावहारिक है तो उतना ही तत्त्वज्ञान या दर्शन से संबंधित है।

या तो शिक्षा विश्वव्यापी मुक्ति आंदोलन में योगदान कर सकती है जो मानवता को ऊंचा उठाती है और अपनी रक्षा करने का मार्ग दिखाती है। या फिर वह उन अंगों की तरह हो जायेगी जिन्हें काम में न लेने से वे सिकुड़ गये हैं। ये अंग वे हैं जो विकास का हिस्सा नहीं बने।

हम पहले ही बता चुके हैं कि हमारे समय में एकदम नया वैज्ञानिक अभियान शुरू हुआ है, जो परिणाम देता है पर वर्तमान में असम्बद्ध-सा हो गया है, इधर या उधर फैला होने के कारण। पर भविष्य में उसके अपने को जोड़ कर रखने की प्रवृत्ति दीख रही है।

यह अभियान फिर भी शिक्षा का असली भाग नहीं है। यह तो मनोविज्ञान के क्षेत्र से संबंधित है ताकि मानव को समझ कर उसे शिक्षित किया जा सके। इसके बजाय यह इस इच्छा से प्रेरित है कि मानवता की पीड़ा और असामान्यताओं

(विशेष रूप से वयस्कों की) को शांत किया जा सके। यह नया मनोविज्ञान भी चिकित्सा के क्षेत्र में जन्मा है, न कि शिक्षा के क्षेत्र में। रोग-पीड़ित मानवता का यह मनोविज्ञान बाद में बच्चों की तरफ मुड़ा है जो आंदोलित और अप्रसन्न थे। उसने पता लगाया कि उनकी आवश्यक ऊर्जा को दबाया जा रहा है और यह समानता के रास्ते से हट रही है।

चाहे जो कुछ भी हो, यह एक वैज्ञानिक आंदोलन है जो आकार ले रहा है और इसका उद्देश्य चारों ओर फैल रही बुराई के सामने कुछ बाधाओं को खड़ा करना है। साथ ही भ्रमित तथा अपने रास्ते से भटकी मानव की आत्मा के लिए किसी तरह के निदान का निर्धारण करना है। शिक्षा को इस आंदोलन के साथ जुड़ना चाहिए।

मेरा विश्वास कीजिए कि आज की तथाकथित आधुनिक शिक्षा, जो ले-देकर बच्चे को उसके द्वारा माने गये दमन से बचाने का प्रयास करती है, सही रास्ते पर नहीं है। विद्यार्थियों को अपनी मनचाही करने देना, उनके लिए कुछ हलकी-फुलकी मनोरंजक चीजों की व्यवस्था करना और उनको उसी पुरानी अराजक स्थिति में पहुंचाना, इस समस्या का हल नहीं है। प्रश्न मनुष्य को कुछ बंधनों से छुटकारा दिलाना नहीं है अपितु उससे पुनः निर्माण का है। इस पुनर्निर्माण के लिए मानव-चेतना के विज्ञान को विस्तार देना है। यह काम धैर्य मांगता है और शोध चाहने वाला प्रयास है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समर्पित हजारों लोगों का योगदान चाहिए।

जो भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है वह महान् आदर्श से प्रेरित होना चाहिए। यह आदर्श उन राजनीतिक आदर्शों से बड़ा है जिन्होंने सामाजिक सुधार किये, भले ही ये भौतिक सुधार उन लोगों से संबंधित हों जो दमन, अन्याय या कष्टों से पीड़ित थे। यह आदर्श विश्वव्यापी आकार वाला है और इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। इसका लक्ष्य पूरी मानवता को बंधन से छुड़ाना है। मैं फिर दोहराना चाहती हूं कि इसके लिए धीरज से काम करना पड़ता है। यह मानवता की स्वतंत्रता और उन्नति का कार्य जो है।

यह भी देखिये कि विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में क्या हो रहा है? कितने लोग प्रयोगशालाओं में बैठ कर काम करते हैं, दूरबीन से परीक्षण करते रहते हैं और जीवन के चमत्कारों की खोज करने में लगे हुए हैं। कितने लोग रसायनशास्त्र की प्रयोगशालाओं में अपना पूरा जीवन ही बिता डालते हैं। वे प्रयोग करते हैं, फिर उनकी प्रतिक्रियाओं की जांच करते हैं और तत्त्वों के रहस्यों का पता लगाते रहते हैं। ये वे ही अनगिनत धीरज वाले और लगनशील कार्यकर्ता हैं जो सभ्यता को प्रगति देते हैं।

अतएव इससे मिलता-जुलता कुछ कार्य स्वयं मनुष्य के लिए भी करना होगा। यह आदर्श, यह प्रस्तावित लक्ष्य, इसलिए, सबके लिए समान रूप से होना चाहिए। शास्त्रों में मनुष्य के लिए जो कहा गया है उसको साकार करने के लिए ऐसा होना चाहिए।

हम इसमें इतना जोड़ सकते हैं कि अपने को व सौंदर्य को समझो और अपने वातावरण को संपन्न बनाने के लिए आगे बढ़ो, जो समृद्धि और चमत्कारों से परिपूर्ण है और उस पर शासन करो।

अब तुम यह कह सकते हो कि हां! यह सब तो बहुत सुन्दर और मोहक है, लेकिन तुम यह नहीं देखते हो कि इस बीच हमारे चारों तरफ किस तरह बच्चे बड़े हो जाते हैं और किशोर पूरे व्यक्ति बन जाते हैं? हम किसी भी वैज्ञानिक विस्तार के लिए नहीं ठहर सकते क्योंकि तब तक मानवता को नष्ट कर दिया जायेगा।

मेरा उत्तर होगा : 'यह जरूरी नहीं है कि शोध के पूरे कार्य को कर लिया जायेगा। बस, इतना ही पर्याप्त है कि इस विचार को समझ लिया जाय और काम को हाथ में लेकर संकेतों के अनुसार चला जाय।'

इस बीच एक बात साफ है कि शिक्षाशास्त्र को भूतकाल की तरह उन विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिए जो कुछ दार्शनिकों तथा मानव-प्रेमियों ने बनाये हैं। इनमें वे व्यक्ति भी शामिल हैं जो इस प्रतिबद्धता, सहानुभूति या उदारता से प्रेरित हुए हैं। शिक्षाशास्त्र को अब मनोविज्ञान के अनुसार काम करना चाहिए। यह वह मनोविज्ञान है जो शिक्षा से जुड़ा हुआ है। इसे एक अलग नाम, शिक्षा-मनोविज्ञान का, तुरंत दे दिया जाना चाहिए।

इस क्षेत्र में अभी भी बहुत-सी खोजें की जानी बाकी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानव की मुक्ति से अनेक विलक्षण रहस्य सामने आयेंगे यदि अब भी उसका दमन होता रहा और वह अज्ञात बना रहा।

शिक्षा को इन रहस्यों के उद्घाटन से प्रकाशित मार्ग पर चलना चाहिए। जैसा कि चिकित्सा के क्षेत्र में सामान्य औषधि प्रकृति पर आधारित होती है।

क्योंकि सुधार करने वाली शक्तियां पहले से ही प्रकृति में रहती आई हैं और स्वास्थ्य का आधार भी शरीर की प्राकृतिक कार्यप्रणाली होती है।

जीवन की सहायता : यह तो पहला और बुनियादी सिद्धांत है।

ऐसे में कौन प्राकृतिक तरीकों को प्रकट कर सकता है, जिनके सहारे मानव की चेतना का विकास आगे बढ़ता है। यह काम स्वयं बच्चा ही कर सकता है, यदि उसे एक बार ऐसी स्थिति में रख दिया जाय जिसमें ऐसा करने को वह स्वतंत्र हो।

ऐसे में हमारा पहला शिक्षक बच्चा स्वयं ही होगा। वह मुख्य प्रेरणा, जो शाश्वत नियमों पर आधारित होगी, उसे अनजाने ही उस रास्ते पर ले जायेगी। यह वह नहीं, जो हम बच्चे की इच्छा बताते हैं, लेकिन वह रहस्यपूर्ण इच्छा, जो उसके निर्माण को निर्देशित करती है और यही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है।

मैं बलपूर्वक यह कहना चाहूंगी कि बच्चों से संबंधित रहस्यों का पता लगाना कोई कठिन काम नहीं है। असली कठिनाई तो वयस्कों में उनके द्वारा पाये जाने वाले पुराने पूर्वग्रहों से है। यह तो इस संबंध में पूरी समझ के अभाव और छिपाने की प्रवृत्ति में है जो शिक्षा का मनमाना आकार है। इसका आधार मनुष्य के अपने तर्क हैं और उससे भी अधिक अनजाने में सही, मानव के अहंकार और विजेता के दंभ को बताने के लिए है। इन्हीं के चारों ओर ताना-बाना बुना जाता रहा है। ऐसे में बुद्धिमत्ता वाले मूल्य छिपे रहते हैं।

हमारा योगदान चाहे जितना थोड़ा और साथ में अपूर्ण हो और चाहे जितना तुच्छ भी हो, वैज्ञानिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में काम करने वालों की दृष्टि में फिर भी यह उन अपार पूर्वग्रहों को थोड़े में समझाने का काम करेगा। ये पूर्वग्रह एक तरफ रहे अनुभव को रद्द और नष्ट करने की क्षमता रखते हैं। हम इनको सामान्य महत्त्व का लाभ तो दे ही चुके हैं और अब हमें इन पूर्वग्रहों के अस्तित्व को सिद्ध करने का काम ही सिद्ध करना है। ❑

खण्ड दो
विज्ञान और शिक्षा में पूर्वग्रह

एक

बच्चों में प्राकृतिक व्यवस्था का प्रकटीकरण तथा बाधाएं

प्रकटीकरण और बाधाएं

इस बात को मस्तिष्क में अवश्य रखें कि किस तरह हमारा अध्ययन अस्तित्व में आया। आज से लगभग चालीस वर्ष पहले चार वर्ष के बच्चों ने अप्रत्याशित विचारधारा को प्रकट किया जिससे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस विचारधारा को **लिखावट में विस्फोट** के नाम से पुकारा गया। कुछ बच्चों ने अचानक ही लिखना शुरू कर दिया और इसका अनुकरण इनके साथियों ने तुरंत बड़ी संख्या में करना शुरू कर दिया। एक तरह से, असल में, यह कार्यशीलता और उत्साह का विस्फोट था। इन छोटे बच्चों ने वर्णमाला के अक्षरों को इस तरह लिया जैसे कि वे विजय का कोई समारोह हों और उन्होंने प्रसन्न होकर नारे भी लगाये। वे बिना किसी थकावट या अरुचि को प्रकट किये लिखते रहे। उन्होंने दीवारों और फर्श को बिना रुके की गई लिखावट से भर दिया। उनकी यह प्रगति सचमुच में चकित करने वाली थी। थोड़े समय बाद वे स्वयं ही सभी तरह की लिखावट को पढ़ने लग गये जिसमें छोटे अक्षर, छपी हुई लिखावट व बड़े अक्षर भी शामिल थे।

अब इस पहले प्रकटीकरण की जांच थोड़ी देर के लिए कर लें। यह प्रकटीकरण स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक प्रकृति का प्रकटीकरण था और ऐसा पर्याप्त शक्तिशाली प्रकटीकरण था जिसने उस समय की दुनिया का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। यह एक प्रकार का चमत्कार था।

फिर उस बारे में विशेष रूप से उन दिनों के वैज्ञानिकों की प्रतिक्रिया क्या थी?

इस अद्‌भुत लिखावट को मनोवैज्ञानिक तथ्य न मानकर इसे शिक्षा पद्धति के एक तरीके से जोड़ दिया गया। लिखावट तथा प्रकृति को साथ-साथ नहीं रखा जा सकता। साधारण रूप में लिखना विद्यालय में पीड़ादायक तथा जिनसे सहमत नहीं हुआ जा सकता, ऐसी तैयारियों का परिणाम होता है। एक तरह से यह पीड़ा तथा दंड भोगने के शुष्क प्रयासों की याद दिलाता है। जो निरक्षर नहीं हैं, उन सभी द्वारा

भोगी गई यातना की भी याद दिलाता है। वह पद्धति जिसने इस तरह के विलक्षण परिणाम इस युग में प्राप्त किये हैं, वह सचमुच में चमत्कारिक है। शिक्षा की इस पद्धति ने काफी उत्सुकता पैदा की है। इस पद्धति ने अंत में निरक्षरता को शीघ्रता से दूर करने का एक माध्यम प्राप्त कर लिया है। यह निरक्षरता सभ्य राष्ट्रों में ही बनी हुई है।

जब अमेरिका के विश्वविद्यालयों के कुछ प्राध्यापक इस पद्धति के अध्ययन के लिए मुझसे व्यक्तिगत रूप से मिले तो मैं उन्हें सिवाय वर्णमाला के अक्षरों के कट-आउटों के अलावा कोई दूसरा उपकरण नहीं दिखा सकी थी। ये अक्षर ऐसी चीजें थीं जिन्हें अच्छी तरह से काम में लिया जा सकता है और इन्हें इधर-उधर ले जाया जा सकता है और उनका आकार भी अपेक्षाकृत बड़ा था।

उनमें से कुछ प्राध्यापक इससे नाराज हुए और उन्हें ऐसा लगा कि मैं उनका मजाक उड़ा रही हूं। ऊंचे वैज्ञानिक क्षेत्रों में यह कहा जाने लगा कि इसमें कुछ भी गंभीरता नहीं है। चमत्कार की बात करना तो उसे रहस्यमय बनाने जैसा है। बाद में जब उन्हें पता लगा कि हम किताबों के बजाय अन्य चीजें काम में लेते हैं जो बेची और खरीदी जा सकती हैं, तो उनमें यह आशंका पैदा हुई कि कहीं हमारी किन्हीं व्यापारिक प्रतिष्ठानों से सांठ-गांठ तो नहीं है। इससे बड़ों द्वारा इस तरफ दिया जाने वाला ध्यान नहीं गया और उसे टाला जाता रहा। ये जो प्रयोग हुए उनका किसी अनजान तत्त्व से कोई संबंध नहीं था। ये आशंकाएं मनोवैज्ञानिक प्रकृति की थीं। इस तरह इसके मार्ग में बाधाएं खड़ी की गईं। यह ऐसी रुकावट थी जिसे हटाया नहीं जा सकता था। यह दीवार उस नया उजाला देने वाले अनुभव और उन लोगों के बीच खड़ी की गई जो अपनी संस्कृति के कारण इसकी व्याख्या भी कर सकते थे और इसका उपयोग भी करने वाले थे।

अब हमें दूसरी तरह के पूर्वग्रहों को लेना चाहिए।

नन्हे बच्चे, जो बिना थके लगातार लिखते ही रहे, एक सचाई थी जिसे सैकड़ों और हजारों लोग भी अपनी आंखों से स्वयं देख सकते थे। अनेक लोगों को अपने को यह विश्वास दिलाना पड़ा कि वर्णमाला के अक्षर सिर्फ वहां रखे हुए हैं और ये अलग-अलग हैं तथा किसी शिक्षक ने बच्चों को लिखने के लिए तैयार नहीं किया यानी बच्चों की लिखावट में शिक्षकों का कोई योगदान नहीं था। बच्चों ने अपने स्तर पर यह सब प्राप्त किया। कुछ लोग प्रकारान्तर से यह सोचने लगे कि इसका सारा रहस्य वर्णमाला के अक्षरों को अलग-थलग करने और उन्हें चलने वाली चीजों के रूप में प्रस्तुत करने की कल्पना में निहित है। यह बुद्धि की कैसी खोज है? कुछ ने सखेद यह पूछा कि मैं स्वयं इस बारे में क्यों नहीं सोचती? एक ने तो यहां तक कह दिया कि यह तो कोई खोज है ही नहीं।

प्राचीन काल में कुछ लोग इस तरह के चलने वाले अक्षरों को काम में लेते थे। यदि मैं अपने को खोजकर्ता और प्रतिभा की धनी मानती हूं तो मुझे ऐसा करके दिखाना भी चाहिए।

यह बड़े अचरज की बात है कि इस तरह की मानसिक निष्क्रियता चारों ओर फैली हुई है जिसे देखा भी जा सकता है। यह सोच बाहरी वस्तु तक ही रुक जाती है और जो इससे आगे जाने और बच्चों के संबंध में नये मनोवैज्ञानिक तथ्यों के बारे में सोचने का प्रयास ही नहीं करते या यहां तक पहुंच ही नहीं पाते हैं, यही कहा जा सकता है। प्रथम, यह ऐसी असली मानसिक बाधा है जो न केवल सुसंस्कृत लोगों में, अपितु जो ऐसे नहीं है उन सभी में व्याप्त है।

यदि यह प्रक्रिया सचमुच में इतनी ही सरल होती कि प्राचीन काल वाली **चल-वर्णमालाओं** को अभी भी याद किया जाता है तो फिर इस बारे में हुई प्रतिक्रियाओं को भी बराबर याद रखना होगा। क्या खुशी से झूमते उत्साही लोगों ने जुलूस निकालकर और हाथों में ऐसी पताकाएं लेकर, जिन पर वर्णमाला के अक्षर लिखे होते, रोम की सड़कों और घरों की दीवारों को ऐसे ही शब्दों से पाटने का कार्य किया? क्या उन्होंने अपने को पढ़ने के लिए तैयार किया और केवल रोमन लिपि का आग्रह न रख कर ग्रीक को भी अपनाया क्या? यदि ऐसा होता तो इतिहास में इन प्रभावशाली घटनाओं को अवश्य अंकित किया गया होता। स्पष्ट है कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ सिवाय चल-शब्दों को याद रखने के। चमत्कार इन शब्दों में नहीं, अपितु बाल-मनोविज्ञान में है। अभी तो कोई इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। पूर्वग्रह हमें 'असाधारण' को स्वीकार करने से रोकता है। इसका कारण यह आशंका है कि उन्हें भी सहज विश्वासी मान लिया जायेगा। ऐसी आशंका उन लोगों को है जो अपनी प्रतिष्ठा तथा सांस्कृतिक प्रधानता को बनाये रखना चाहते हैं। यह बात सब पर लागू होती है। यह 'नये' को छिपाती है और किसी खोज को अनुपयोगी बना देती है।

यदि कोई खोज सचमुच में ऐसी है तो उसमें कुछ नई बात होनी ही चाहिए। नवीनता का यह तत्त्व एक खुले द्वार की तरह है जिसमें वे ही प्रवेश करते हैं जिनमें ऐसा करने का साहस है। यह वही द्वार है जो उन क्षेत्रों तक पहुंचा देता है जिनमें अभी तक खोज हुई ही नहीं है। इस तरह यह अद्‌भुत तथा विचारों वाला द्वार है जो कल्पनाओं को उत्तेजना देता है। सचमुच में सांस्कृतिक श्रेष्ठता वाले लोग तो वे हैं जो तर्कसंगत ढंग से इन क्षेत्रों में खोज करने वाले बनते हैं। एक मानसिक तथा भावनात्मक अवरोध इन गंभीर चिंतन करने वाले लोगों के मार्ग में खड़ा हो जाता है जो प्रकृति की 'परिकथाओं' में आनंद लेना भूल गये हैं। इस नियम का अपवाद प्राप्त करना तो बहुत कठिन हो गया है। प्राचीन ग्रंथों में इस शाश्वत तथ्य को इस

सांकेतिक रूप में समझाया गया है कि नये क्षेत्र में प्रवेश के लिए कुछ अंश में सादगी तथा अभाव की स्थिति के बने रहने की आवश्यकता रहती है।

इस तरह की बाधाओं के एक उदाहरण के रूप में हम **सी.एफ. वोल्फ** का जो हाल हुआ उसका उल्लेख कर सकते हैं। ये वही **वोल्फ** हैं जिन्होंने प्रथम बार उस रचनात्मक प्रक्रिया की खोज की थी जिसमें जीव की कोशिकाओं को भ्रूण में बदला गया था। ताकि परिणाम मुर्गी के बच्चे की उत्पत्ति के रूप में आये। उनकी खोजों का एक स्वर से विरोध हुआ जिसमें उस समय के सभी दूसरे वैज्ञानिक शामिल थे। उस समय वैज्ञानिकों के दो वर्गों में विवाद चल रहा था। वे तत्वज्ञान संबंधी धारणाओं के कारण पूर्वग्रहयुक्त थे जबकि वे उस युवा खोजकर्ता द्वारा प्रस्तुत तथ्यात्मक सामग्री को मानने को तैयार ही नहीं थे। उन्हें अपना देश छोड़ना पड़ा और वे देश के बाहर ही मरे। केवल 50 वर्ष बाद ही जब दूसरे वैज्ञानिक **के.ई. वान बाऊर** ने **वोल्फ** की खोजों को दोहराया तब उनको तथा उनके पूर्ववर्ती को पूरा श्रेय दिया गया और तभी **भ्रूणविज्ञान** नामक नये विज्ञान को जन्म मिला।

लेकिन यहां यह अंकित किया जाना चाहिए कि यह मान्यता तो भ्रूण संबंधी एक खोज के लिए दी गई है। जहां बच्चों का प्रश्न है, वहां बहुत-से पूर्वग्रह और निहित स्वार्थ इकट्ठे हो जाते हैं। मेरा मतलब इन सब से ऊपर बच्चों की सुरक्षा के बारे में रुचि पैदा करना है। यह सुरक्षा 'मानसिक प्रयास', समय से पूर्व की बौद्धिक प्रवृत्ति आदि से संबंधित है। **सबकी आंखों में बच्चे खाली प्राणी हैं जिन्हें खेल, नींद और समय बिताने के लिए अद्भुत कथाओं तक के लिए सीमित रखा गया है।** ऐसे बच्चों द्वारा गंभीर मानसिक कार्य किया जाना अपवित्र माना जाने लगा।

ऐसा विशेष रूप से तब हुआ जब **चारलेट बुहलर,** जो विख्यात **वियनावासी कार्ल बुहलर** की पत्नी थी और स्वयं प्रायोगिक मनोविज्ञान की अधिकृत व्याख्याकार थी, वे इस बारे में इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि 5 वर्ष के बच्चों की मानसिक शक्ति किस रूप में संस्कृति के प्रवेश के लिए उपयुक्त नहीं है। इस तरह विज्ञान के नाम पर हमारे अनुसंधानों पर एक तरह का पत्थर रख दिया गया है।

हमने छोटे बच्चों में प्राकृतिक रूप से जो भावना पाई, उसे एकांत रूप से 'शिक्षा पद्धति' की देन मान लिया गया है जो स्वयं अनिश्चित के साथ विवादग्रस्त भी है। फिर आलोचकों की लड़ाई शुरू हुई। इस प्रश्न पर हुए वाद-विवाद के बाद भी बच्चों के मानसिक जीवन की बलि निरर्थक परिणामों के लिए चढ़ाई जानी चाहिए, ऐसा मान लिया गया। क्योंकि कुछ समय बाद, छः वर्ष की आयु में सभी पढ़ना और लिखना सीख सकते हैं। साथ ही प्रत्येक यह भी जानता है

कि इसके लिए कितना प्रयास और त्याग करना होता है। **हमें बच्चों को उनके प्रारंभिक जीवन में बौद्धिक अध्ययन के पीड़ादायक श्रम से बचाना चाहिए।** शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में एक बड़ी हस्ती माने जाने वाले **क्लेपारडे** ने नई शिक्षा नीति के संदर्भ में उन सभी प्रकार की हानियों को गिनाया है जो बच्चों को विद्यालयों में पढ़ने भेजने से होती है। उनका तर्क इस प्रकार है :

- यह सच है कि हमारी सभ्यता (शिक्षा के) अध्ययन को एक आवश्यकता मानती है तो हमें इस हानि को कम-से-कम करने का प्रयास करना चाहिए। नये विद्यालयों ने इसीलिए इन्हें मिटाने का प्रयास किया है और धीरे-धीरे उन्होंने अपने पाठ्यक्रम से अनेक विषयों, यथा रेखागणित, व्याकरण और गणित के बड़े भाग को हटा भी लिया है और उसके बदले खेलों और खुले आकाश वाले जीवन को स्थान दिया है।

- फिर भी दुःख की बात यह है कि सरकारी शिक्षा के संसार ने भी हमारे कार्य को एक किनारे कर दिया। शिक्षकों ने, जिन्होंने हमारे से प्रारंभ में सीखा, उनमें से अधिकांश **फ्रोबल किंडरगार्टन** शिक्षा के प्रति समर्पित व्यक्ति थे। इस तरह **फ्रोबेल** के जो उपहार थे, वे हमारे मानसिक विकास के वैज्ञानिक तंत्र से मिल गये थे। इससे जो निष्कर्ष सामने आया है वह यह था कि दोनों के कुछ भाग अच्छे हैं, पर छोटे बच्चों के लिए वर्णमाला, लिखना तथा गणित को नहीं लिया जाना चाहिए यानी इनका प्रवेश बाद में होना चाहिए।

- फिर प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों ने वर्णमाला के साथ प्रयोग किये, परन्तु वे न तो कोई उत्साह पैदा कर सके और न कोई विस्फोट ही। इससे एक ही बात हुई और वह यह कि एक मुक्त तरीके का अध्ययन सामान्य विद्यालयों में भी घुस गया और व्यक्तिगत काम-धंधे और अन्य बातें सिखायी जाने लगी।

- सरकारी तौर पर 'चमत्कार' का स्थान उपेक्षा ने ले लिया। इसका परिणाम यह आया कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की रुचियों को आकर्षित करने में सफल नहीं हुई। इस तरह यह मेरे पर छोड़ दिया गया कि मैं बाल-मनोविज्ञान के उन रहस्यों की खोज करूं जिन्हें इस प्रयोग ने प्रकट किया था। मेरे अतिरिक्त कौन ऐसा था जो इन असली तथ्यों को शैक्षणिक प्रभाव से अलग-थलग कर सकता था। मुझे यह पता था कि बच्चों में इस आयु में कुछ ऊर्जा होती है जिसे विलक्षण कहा जा सकता है और यह घोषित हो चुकी है और अस्तित्व में भी है।

- यदि हमारा प्रयोग बच्चों के प्रथम समूह तक ही सीमित था तो भी यह विचार अपने-आप में उल्लेखनीय था, क्योंकि यह बाल-मस्तिष्क की शक्तियों की खोज थी जो अब तक छिपी हुई थी।

• क्या यह विचित्र घटना किसी चमत्कार या कदाचित् उससे अधिक नहीं है, जब गेलवानी ने मरे तथा खाल उतरे मेढकों को, जो खिड़की से बंधे हुए थे, अपने पैरों को हिलाते देखा? अगर उसने यह सोचा होता कि वह पुनर्जीवन का कोई 'चमत्कार' देख रहा है या यह कोरा दृष्टि-भ्रम है तो उसकी बुद्धि ने इस बारे में, इसके कारणों की खोज में निरंतर लगे रहने को नहीं कहा होता और न उसकी प्रेरणा पाकर इस मामले की जांच की होती। यदि मरे मेढक भी चलते हैं तो उनमें ऊर्जा होनी चाहिए, जो उन्हें ऐसा करने देती है। उसने तर्क किया और इस तरह बिजली की खोज हुई। बिजली का विकास और उसको काम में लिया जाना इस प्रकटीकरण से बहुत आगे गया।

अगर किसी ने इस प्रयोग को पूरी तरह से दोहराना चाहा होता ताकि उसे सिद्ध किया जा सके तो यह चमत्कार नहीं हुआ होता और यह सोचा गया होता कि यह तो निरा भ्रम है जो विज्ञान के क्षेत्र में शामिल करने योग्य नहीं है।

पहले वाला प्रकटीकरण

हमारे बच्चों ने पहली बार मन संबंधी शक्ति को प्रकट नहीं किया था, जो सामान्यतया छिपी रहती है। हालांकि वे ऐसा करने वाले सबसे कम आयु के थे। पहले यह बात उन बच्चों ने प्रकट की थी जो सात वर्ष से ऊपर के थे। शिक्षाशास्त्र का इतिहास सचमुच में उन 'चमत्कारों' को बताता है जो **स्टांज** में **पेस्तोलोजी** द्वारा चलाये गये विद्यालयों में हुए थे। अकस्मात् उसके सभी शिक्षार्थी प्रगति के ऐसे वातावरण में आ गये जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। उन बच्चों ने ऐसे काम किये जो उनकी आयु के परे समझे जाते थे। कुछ ने गणित में ऐसी प्रगति की कि उनके माता-पिता **पेस्तोलोजी** के संस्थानों से यह सोचकर उन्हें हटाकर ले गये कि कहीं वे मानसिक थकान के शिकार न हो जायें। **पेस्तोलोजी** उनके इस स्वयंस्फूर्त तथा अथक परिश्रम वाले कार्य का वर्णन करते हुए, जिसके कारण यह अद्‌भुत प्रगति हुई, साफ-साफ स्वीकार करते हैं कि इन अद्‌भुत कामों का उनसे कोई लेना-देना नहीं था। वे कहते हैं, **मैं तो इन्हें चकित होकर देख रहा एक दर्शक मात्र था।**

फिर तो प्रकाश बाहर आ गया और **पेस्तोलोजी** की उदार तथा स्नेहपूर्ण देखरेख में सब-कुछ सामान्य-सा हो गया। यह जानना दिलचस्पी वाली बात होगी कि उनके प्रशंसकों, विशेषकर स्विस लोगों ने, जो उनको अपने लिए गौरव की बात समझते हैं, इस बारे में सोचना शुरू कर दिया, सबकी यह राय थी कि **स्टांज** की विचारधारा उस अवधि की है जिसने उनके नायक को सनकी बना दिया था और उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि बाद में वे फिर 'गंभीर काम' की तरफ लौट आये।

इस तरह शिक्षाशास्त्र ने उस समय विजय पाई जब उसने मनोवैज्ञानिक प्रकृति के प्रकटीकरण को दफना दिया।

टॉल्सटॉय ने इसी तरह का वर्णन किसानों के बच्चों के बारे में किया है जिन्हें वे बड़े उत्साह और स्नेह से पढ़ाया करते थे। यह विद्यालय **जसनाजा पोलियाना** में था। अकस्मात् इन बच्चों ने बाइबिल को बड़ी रुचि के साथ पढ़ना शुरू कर दिया। वे विद्यालय में निश्चित समय से पहले आकर अकेले में पढ़ने लगे। इसमें उन्हें कोई थकान महसूस नहीं हुई। वे तो इसमें आनंद पाने लगे, जैसा कि इससे पहले उन्होंने कभी ऐसा भाव दिखाया था। फिर टॉल्सटॉय ने उन्हें 'सामान्य' होते भी देखा।

इस तरह के अनेक तथ्य, जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते, बच्चों के जीवन में आये होंगे। लेकिन चूंकि वे जाने नहीं जा सके, अतः वे शिक्षाशास्त्र के इतिहास में अंकित होने से रह गये। अतएव एक आन्तरिक ऊर्जा, जिसकी प्रकृति ही अपने को घोषित करने की रहती है, विश्वव्यापी पूर्वग्रहों के कारण दफन-सी रहती है।

बचपन का 'मानसिक स्वरूप'

बचपन का अपना विशेष रूप से एक मानसिक स्वरूप होता है जिसे कभी भी मान्यता नहीं दी गई।

यह सचमुच में **मानसिक स्वरूप** ही था, न कि विस्फोट की लिखावट की प्रवृत्ति, ने मेरे बच्चों में अपने-आप को प्रकट किया। ये **सेन लोरेंजो** के प्रथम कक्षा के बच्चे थे।

ऐसा भी हुआ कि जब बहुत लम्बे-लम्बे शब्द, यहां तक कि विदेशी शब्द भी लिखाये गये जो उन्होंने **चल-वर्णमाला** के सहयोग व ध्वनि की सहायता से पुनः लिख लिये, हालांकि उन्होंने उन्हें केवल एक बार ही सुना-भर था। वे सब, जिन्होंने मेरी पुस्तकों को पढ़ा है, वे इस बारे में जानते हैं।* उदाहरण के लिए हमने उन्हें अनेक नये कठिन शब्द लिखाये।

ये कठिन शब्द बच्चों के मस्तिष्क में एक बात को बैठाते हैं और वे इन्हें निश्चित रूप से याद रखते हैं। यह ठीक उसी तरह है जैसे किसी ने उनकी स्मरणशक्ति में उन्हें उकेर दिया हो। इसमें सबसे विलक्षण बात उनकी शांति और सादगी रही मानों उन्होंने उसके लिए कोई प्रयास ही नहीं किया हो। यह भी याद रखना होगा कि यूं उन्होंने कुछ लिखा ही नहीं, अपितु उन्हें तो वर्णमाला के डिब्बे के अलग-अलग खानों से प्रत्येक शब्द को ढूंढ़ना था। उन्हें तो प्रत्येक शब्द के

* देखिए Discovery of the Child **डॉ. मरिया मोन्तेस्सोरी** कलाक्षेत्र प्रकाशन, तिरुवनमियुर, चेनै द्वारा प्रकाशित।

खाने को देखना था, जो सरल काम नहीं था। फिर उन्हें उस शब्द को उसके खाने से लेकर उसे पहले से रखे गये अक्षर के बराबर जमाना था ताकि वह शब्द पूरा हो सके। यह कार्य हममें से किसी का भी ध्यान खींच सकता है।

यह सामान्यतः शिक्षा के शिल्पकारों को विशेष रूप से चकित करता है कि प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षकों द्वारा बोल कर लिखाये गये वाक्यों को लिखना कितना कठिन है। हम सब जानते हैं कि किस तरह अच्छे शिक्षक को भी प्रत्येक शब्द को दुबारा बोलना पड़ता है जबकि बच्चा उसे लिखता है। यहां तक कि आठ वर्ष या उससे अधिक आयु के बच्चों के लिए भी ऐसा करना पड़ता है। कारण यह बताया जाता है कि बच्चा यह भूल जाता है कि वह क्या लिख रहा है। यही कारण है कि प्रारंभ में केवल छोटे तथा जाने-पहचाने शब्द ही काम में लिये जाते हैं।

यहां हमें उस प्रसिद्ध घटना को स्मरण करना चाहिए जो शिक्षा-निरीक्षक **डी डोनेटो** के साथ घटी थी। एक बार वे हमारे विद्यालय को देखने आये। उनकी उस समय की मुखमुद्रा कठोर थी। इस तरह वे किसी भ्रांति के विरुद्ध पूरी तरह तैयार होकर आये थे। वे ऐसे लम्बे तथा कठिन शब्द बच्चों को लिखाना नहीं चाहते थे, ताकि उनके पीछे किसी तरह की चालाकी को छिपाया जा सके। उन्होंने केवल अपना नाम **डी डोनेटो** लिखने को कहा और वह भी एक चार वर्ष के बच्चे को। वह बच्चा उनके उच्चारण को ठीक तरह से पकड़ नहीं पाया और 'डीटोनेटो' समझा और उसने उसके स्थान पर तीसरा अक्षर 'टी' लिख दिया। निरीक्षक ने अपनी शैक्षणिक पद्धति के प्रति निष्ठावान रहते हुए उसे तुरन्त सुधार दिया और अपने नाम को दुबारा अधिक साफ लिखा दिया। बच्चा इससे भ्रमित नहीं हुआ। उसके (बच्चे के) लिए यह स्पष्ट रूप से न तो सुधारने का विषय था और ना ही गलती थी, अपितु केवल पूरी तरह से न सुन पाने का मामला था। उसने 'टी' को हटा दिया पर उसे उसके खाने में न डालकर उसे अपनी टेबल पर एक तरफ रख दिया। वह शांतिपूर्वक नाम को जोड़ने का कार्य करता रहा और जब वह अंतिम अक्षर की तरफ आया तो उसने छोड़े हुए अक्षर 'टी' को भी काम में ले लिया। इस तरह पूरा नाम ही उसके मस्तिष्क को प्रभावित करता रहा और उसकी व्याख्या ने उसके लिए किसी तरह की कठिनाई खड़ी नहीं की। प्रारंभ से ही वह इस बात को जानता था कि शब्द को पूरा करने के लिए एक 'टी' की जरूरत रहने वाली है। इसने निरीक्षक पर इतना बड़ा प्रभाव डाला कि वे बोल उठे, 'गलती ने सत्य को प्रमाणित कर दिया।' मैं स्वीकार करता हूं कि मैं इस विलक्षण तथ्य में विश्वास नहीं करता, परन्तु अब मैं पूरी तरह से आश्वस्त हो गया हूं। मुझे यह कहना चाहिए कि यह अविश्वसनीय परन्तु सत्य है। बाद में उस बच्चे को, जिसे

उन्होंने सुधारा था, सराहना करना वे भूल गये और मेरी तरफ मुड़े। और बोले, 'मैं आपको बधाई देता हूं। यह वास्तव में उल्लेखनीय पद्धति है। हमें अपने विद्यालयों में इसे काम में लेना चाहिए।' क्या इससे यह स्पष्ट नहीं है कि शिक्षा विभाग के एक शिल्पी के लिए एक ही प्रश्न हो सकता है कि कोई 'पद्धति' बेहतर है या खराब। मनोवैज्ञानिक तथ्य तो उसके सोच के बाहर ही रहता है। पूर्वग्रह की दीवार, एक शिक्षा देने वाले के लिए, इस विचार को समझना असंभव बना देती है। रवाना होने से पहले उसने इस बारे में फिर सोचा और टिप्पणी की : 'सामान्य तरीकों से तो मेरा बच्चा भी यह काम नहीं कर पाता।' यह आभार उसने मेरे को संबोधित करते हुए व्यक्त किया।

यह घटना स्मृति संबंधी एक तथ्य को सामने लाती है। यह विचार कि छोटे बच्चों में स्मृति का स्वरूप बड़े बच्चों से भिन्न होता है, नहीं माना जा सकता। हालांकि उनकी स्मृति पांच वर्ष वाले बच्चों से थोड़ी कमजोर तो हो सकती है।

तो फिर छोटे बच्चों की स्मृति के बारे में क्या अनोखी बात है? यह तो स्पष्ट है कि शब्द अपने पूरे विस्तार में उसकी स्मृति में उकेरे गये होते हैं। शब्द और स्वर-ध्वनियां, जिनसे शब्द बनाये जाते हैं, और साथ में उनका सही रूप क्रमशः उसके मस्तिष्क में बना रहता है। कोई भी उसे मिटा नहीं सकता। अलबत्ता उनकी स्मृति बड़े बच्चों से भिन्न प्रकृति की अवश्य होती है। उनके मस्तिष्क में एक प्रकार की कल्पना रूप लेती है और बच्चा उसकी एकदम स्पष्ट और निश्चित तरीके से पुनरावृत्ति करता है।

स्मरणशक्ति MNEME

तो क्या यह संभव है कि बच्चे में हमसे अलग कोई स्मरणशक्ति है जबकि हमारा मस्तिष्क विकसित और सचेत है।

हमारे समय के मनोविज्ञानी स्मृति के एक सुप्त आकार को भी मान्यता देते हैं जो अपने में निश्चित स्वरूपों को पीढ़ियों तक बनाये रखती है और उन प्रकारों की विशिष्टताओं को सूक्ष्म रूप में दुबारा सामने लाती है। उन्होंने उसे एक अलग नाम दिया है—'MNEME'। यह स्मृति अपनी अनंत श्रेणियों के साथ जीवन का सचमुच में अंग बन जाती है और अनंत की भी। एक बार जब यह निश्चित कर लिया जाता है तो फिर चार वर्ष की आयु वाले बच्चे के मस्तिष्क में मनोवैज्ञानिक चेतना के विकास को जल्दी ही मान्यता दी जा सकती है। ऐसे में यह स्मरणशक्ति सचेत स्मृति के रूप में आगे बनी रहती है। एक तरह से यह उसके साथ मिलने की स्थिति में होती है। साथ ही वह यह भी दिखाती है कि वह उस चिंतन का अंतिम चिह्न है जो गहरी जड़ जमा चुका है।

स्मृति का अंतिम चिह्न भी दूर तक जाने वाला है। यह भाषा की निर्माणकारी शक्तियों से जुड़ा हुआ है। मातृभाषा तो अचेतन में पहले से ही अपना आकार ले चुकी होती है, जो चेतन मस्तिष्क द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया से भिन्न होती है। और वह उसका ही परिणाम होती है। मातृभाषा वह भाषा है जो किसी के व्यक्तित्व में एक विशेष खूबी होती है। वह उस विदेशी भाषा से अलग होती है जो चेतन मस्तिष्क की सहायता से कोई भी सीख सकता है।

वह (विदेशी भाषा) अपूर्ण होती है और उसे बनाये रखने के लिए उसका बराबर प्रयोग करना पड़ता है।

चल-अक्षर स्पष्ट रूप से उन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो बच्चे के मस्तिष्क में उन ध्वनियों पर असर डालती हैं जिन्हें बच्चा पहले ही ग्रहण कर चुका होता है। इतना ही नहीं, वे बच्चे की भाषा को ठोस आकार में बाहरी दुनिया तक लाते हैं। लिखने में दिखाई गई रुचि का कारण आंतरिक है, अर्थात् वह भीतर की प्रेरणा का परिणाम है। रचनात्मक बुद्धि बराबर काम करती रहती है। यह वैसी ही है जैसी कि प्रकृति ने निश्चित कर रखी है। इसी से मनुष्य की बोलचाल की भाषा का निर्धारण होता है। इसी से बुद्धि को बढ़ावा मिलता है और वर्णमाला के लिए ऐसा उत्साह सामने आता है।

इटालियन भाषा में केवल 21 ध्वनियां हैं, फिर भी उनसे असंख्य शब्द बनते हैं और ये इतने होते हैं कि बड़े से बड़ा शब्दकोष भी उन सबको अपने में समेट नहीं सकता। इस तरह केवल 21 अक्षरों से ही इतने शब्द बन जाते हैं। यह वर्णमाला इसीलिए उत्तराधिकार में मिले सभी शब्दों को, जिन्हें बच्चे ने अपने विकास के दौरान इकट्ठा कर लिया है, पुनः लिखे जाने के लिए पर्याप्त है। यह भाषा इस तरह इकट्ठे हुए शब्दों के विस्फोट को सामने लाने में पर्याप्त है। ऐसा वह अकस्मात् भी कर सकती है और बच्चे इस चमत्कार के साथ खुशी से रहते हैं।

अनुशासन

अब हम दूसरी तरह के पूर्वग्रहों को लेते हैं जो हमारे कार्य को समझने में बड़े बाधक बनते हैं।

एक प्रश्न 'अनुशासन' को लेकर उठाया जाता है, जो इन छोटे बच्चों द्वारा आश्चर्यजनक ढंग से दिखाया जाता है। ये बच्चे शांत और व्यवस्थित रहते हैं, हालांकि वे अपने काम को चुनने को स्वतंत्र होते हैं। वे उन अभ्यासों को तब तक जारी रख सकते हैं (और उनमें कोई बाधा नहीं आती) जब तक वे उनमें रुचि लेते रहते हैं।

वे इस व्यवस्था को तब भी बनाये रखने में सक्षम होते रहते हैं जब कि शिक्षक कक्षा में नहीं होता है। यह सामूहिक व्यवहार सामाजिक सौहार्द के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है और उनके चरित्र की खूबी बताता है जिसमें ईर्ष्या या प्रतिद्वन्द्विता का कोई चिह्न नहीं दीखता है। वे तो एक-दूसरे की सहायता करने को तैयार रहते हैं। यह सब प्रशंसा के योग्य हैं। **वे 'मौन' को प्यार करते हैं और उसे उनके द्वारा आनंद का असली स्रोत मानने जैसी बात है।**

ज्यों-ज्यों पूर्णता की तरफ बढ़ना होता है, त्यों-त्यों आज्ञापालन का भी विकास होता है। आखिर में वह उस स्तर तक पहुंच जाती है जब आज्ञा के पालन में भी आनंद आता है। एक समय वह भी आता है जब आज्ञा के मानने की प्रतीक्षा रहती है, यह मैं कह सकती हूं।

यह हमें उस बात की याद दिलाती है जो किसी धार्मिक समुदाय के सदस्यों द्वारा आज्ञापालन में दिखाई जाती है।

मजे की बात यह है कि इस अद्भुत व्यवहार की प्राप्ति में शिक्षक की कोई भूमिका ही नहीं होती है। दूसरे शब्दों में इसे शिक्षा का सीधा परिणाम भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि न तो कोई निर्देश दिया जाता है और न झिड़कियां ही। इसी तरह न तो इनाम दिया जाता है और न कोई दंड ही। सब-कुछ स्वयं प्रेरणा से अकस्मात् होता रहता है।

फिर भी इस असामान्य बात का भी कोई कारण तो होना चाहिए। इसे भी कुछ प्रभाव से पैदा किया जा सकता है। उन लोगों को, जो इस बारे में मेरे से स्पष्टीकरण चाहते हैं, मैं उन्हें यही उत्तर दे पाता हूं कि यह स्वतंत्रता ही है जो इसे पैदा करती है। इसी तरह लेखन संबंधी विस्फोट के बारे में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर मैं यह कह कर देता हूं कि ये तो **चल-वर्णमाला** हैं।

मुझे याद है कि एक राज्यमंत्री ने बिना इस बात को समझे कि इस स्वयं-प्रेरणा की क्या विशेषताएं हैं, एक बार मुझे कह दिया कि मैंने एक बड़ी समस्या हल कर दी है। यह भी कि मैंने स्वतंत्रता और अनुशासन को एक साथ जोड़ने में सफलता पाई है। उनके अनुसार यह समस्या केवल सरकारी विद्यालयों को ही प्रभावित नहीं करती। यह तो सभी राष्ट्रों की सरकारों की चिंता है।

इस मामले में भी यह तो स्पष्ट है कि मेरे पास ऐसी कोई शक्ति है जिसके कारण ये परिणाम प्राप्त हुए, ऐसा समझ लिया गया। मैं ही वह व्यक्ति हूं जिसने इस समस्या को हल कर दिया है। लोगों की मानसिकता ऐसी थी जो इस बारे में दूसरी तरफ को समझ ही नहीं पा रही थी कि बचपन की प्रकृति भी किसी समस्या का हल प्रस्तुत कर सकती है, जिसे हम वयस्क लोग हल नहीं कर सकते या कर

नहीं पाये। इस तरह बच्चों से वह जुड़ाव आया, जिसे हमारा मस्तिष्क एक-दूसरे का विरोधी समझ रहा था।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सही बात तो यही कहनी चाहिए थी कि हम इस प्रवृत्ति को समझें। हम सब एक साथ मिल कर मानव-मस्तिष्क के रहस्यों में झांकने का प्रयास करें। लेकिन हम सब के लिए यह बात समझना लगभग असंभव है कि हम बच्चे की आत्मा की गहराई से कुछ नया प्राप्त कर सकते हैं और ऐसा भी, जो हम सबके लिए कुछ उपयोगी हो। यही क्यों, ऐसा प्रकाश भी प्राप्त कर सकते हैं जो मानवीय व्यवहार के अनजाने कोनों को दिखाता हो।

इस संबंध में दार्शनिकों, शिक्षाशास्त्रियों और यहां तक कि लोगों द्वारा प्रकट की गई राय और आलोचना को अंकित करना भी एक मजेदार बात होगी।

कुछ कहते हैं कि आप नहीं जानती कि आपने क्या प्राप्त किया है। आप इस बात से स्वयं अवगत ही नहीं हैं कि कितना बड़ा काम आपने किया है। कुछ चिल्लाकर कहते हैं कि आप मानवीय प्रकृति के बारे में इतनी आशावादी कैसे हैं?

जैसे कि इन अवधारणाओं का मेरे द्वारा वर्णन मानों कोई काल्पनिक कथा हो या इनके बारे में मैंने कोई सपना देखा हो। असली संघर्ष अभी भी रुका नहीं है और यह दार्शनिकों और अनेक धर्मों द्वारा अभी भी चालू रखा हुआ है। उन्होंने मेरी राय को उस तथ्य से जोड़ा है कि जिसको सैकड़ों लोगों ने अपनी आंखों से देखा है। कुछ लोगों ने मुझे **रोसाऊ** का अनुयायी माना। यह तो स्पष्ट है कि मैंने उनके इस मत से सहमत होने का निर्णय ले लिया है कि यूं तो मनुष्य अपने-आप में अच्छा होता है परन्तु समाज के संपर्क में आने के बाद सब-कुछ बिगड़ जाता है। जैसा कि **रोसाऊ** ने अपनी एक पुस्तक में रोमांस किया है, वैसा ही मैंने अपने विद्यालयों में किया है, ऐसा मान लिया गया। **रोसाऊ** की एक पुस्तक में एक तरह के रोमांस वाली कहानी है।

इसके साथ ही मेरे से विचार-विमर्श करते समय किसी तरह का कोई स्पष्टीकरण या विचार सामने नहीं आया। एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति ने एक प्रभावशाली समाचार पत्र में लिखा कि **मोन्तेस्सोरी** एक तुच्छ दार्शनिक है।

धार्मिकों के अनुसार मैं धर्म के विरुद्ध चली गयी हूं और उनमें से कई मेरे आस-पास इकट्ठे हो कर मुझे बताने लगे कि 'मूलपाप' में वास्तविकता क्या है? यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि कैथोलिक या प्रोटैस्टैंटों के इस बारे में सामान्य रूप से क्या विचार हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने मानव-प्रकृति के पूरी तरह से बुरी होने को अंतिम रूप से स्वीकार लिया है।

न केवल विभिन्न दर्शनों के आचार्य, जो मानव की आत्मा की प्रकृति के साथ संबंध रखते हैं, दुःखी हुए, अपितु विद्यालयी शिक्षा के आचार्य भी उतने ही क्रुद्ध हुए। हमारी पद्धति को ठीक नहीं समझा गया क्योंकि इसमें इनाम और दंड को समाप्त कर दिया गया है और इसमें अनुशासन को बनाये रखने के लिए इन व्यावहारिक साधनों की सहायता न लेने का प्रावधान जो रखा गया है। इसे शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से विवेकहीन बताया गया और विश्वव्यापी व्यावहारिक अनुभव के विरुद्ध भी। इतना ही नहीं, यह अपवित्र भी माना गया है। क्योंकि ऐसा कहा ज्ञाता है कि ईश्वर भी अच्छे को इनाम देता है और दुष्ट को दंड। कुछ के लिए यह ईश्वरीय विधान (इनाम व दंड वाला) नैतिकता को दिया जाना वाला वास्तविक सहारा है।

अंग्रेज अध्यापकों के एक वर्ग ने तो सार्वजनिक रूप से इसका प्रतिवाद किया और घोषणा की कि यदि दंड देने के प्रावधान को हटा दिया गया तो वे अपना पद छोड़ देंगे, क्योंकि वे बिना दंड के शिक्षा नहीं दे सकते।

दंड! मैंने यह सोचा भी नहीं था कि यह दंड अपने-आप में अपरिहार्य संस्थान बन गये हैं जो पूरी बाल-मानवता पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं। सभी लोग दंड के इस अपमान को सह कर ही तो बड़े हुए हैं।

जिनीवा स्थित **लीग आफ नेशन्स** (पुराना संयुक्त राष्ट्र) ने दंड के बारे में जांच की थी और **इंस्टीट्यूट जीन जेक्वीस रोसाऊ** ने **न्यू एज्यूकेशन फेलोशिप** के सहयोग से इसमें भागीदारी की थी। शिक्षा संस्थाओं और निजी केन्द्रों से यह पूछा गया था कि वे बच्चों को शिक्षा देते समय किस तरह के दंड देते हैं। कौतूहल की बात यह रही कि इस तरह की जांच से क्रुद्ध होने के बजाय उन्होंने शीघ्रता से इस बारे में जानकारी दे डाली और कुछ को तो अपने दंड देने के तरीकों पर घमंड भी था। कुछ ने उदाहरण के लिए यह कहा भी कि तुरंत दंड देना उनके यहां वर्जित है, क्योंकि हो सकता है कि क्रोध में आकर यह दंड दिया जाता हो, लेकिन कमियों को बराबर अंकित किया जाता रहता और सप्ताह के अंत में पूरे सप्ताह का सारा दंड एक साथ ही दे दिया जाता है। यद्यपि वह विश्राम करने का दिन माना जाता है।

कुछ परिवारों का उत्तर था कि वे हिंसक नहीं हैं, भले ही बच्चा नटखट हो। हम उसको (बच्चे को) बिना भोजन कराये ही सुला देते थे।

अतएव इसमें कोई संदेह नहीं है कि बलप्रयोग (हिंसक दंड) को अधिक समर्थन प्राप्त था, जैसे थप्पड़ मारना, अपमानित करना, पीटना, ताले में बंद करना, अन्य तरीकों से डराना आदि। लीग ऑफ नेशन्स को इस संबंध में जो सूची

मिली वह **सोलोमन** की इस कहावत का उदाहरण सहित प्रदर्शन है कि *'यदि बच्चे को दंड नहीं दोगे तो वह बिगड़ जायेगा।'*

लंदन में मुझ स्वयं को कोड़ों का एक बंडल खरीदने पर मिल गया, क्योंकि वे (कोड़े) अध्यापकों द्वारा तब भी काम में लिये जाते थे।

शिक्षा के क्षेत्र में इन 'अपरिहार्य साधनों' को काम में लिये जाने की आवश्यकता से यह तो सिद्ध है कि **बचपन का जीवन न तो पहले और न अब लोकतंत्र के अनुरूप है और न इसमें मानवी शालीनता का ही आदर होता है।** अतिप्राचीन काल से एक तरह की दीवार वयस्कों के मस्तिष्क से अधिक हृदय में खड़ी कर दी गई है। बच्चे की आंतरिक शक्ति को कभी समझा ही नहीं गया। इस तरह की समझ न तो बौद्धिक और न नैतिक दृष्टि से ही विकसित की गई।

मेरे अनुभवों के अनुसार बच्चे का यह प्रकटीकरण ही दंड को समाप्त कर देता है। चूंकि यह सब अकस्मात् और संयोगवश परिस्थितियों के कारण तथा अप्रत्याशित भी होता है। फिर भी यह दूसरों के समझने लायक नहीं हो पाता है तथा लोक-निंदा का कारण बनता है।

मुझे एक उदाहरण के द्वारा इसे समझाने दीजिए। किसी कुत्ते को कोई वस्तु की ओर इंगित करते हुए अंगुली (तर्जनी) दिखाई जाती है तो इसका मतलब यह होता है कि वह (कुत्ता) तुरंत जाये और उस वस्तु को ले आये, जिस तरफ संकेत किया गया है। लेकिन वह ऐसा करने के बजाय अंगुली की तरफ ही टकटकी लगाकर देखता रहेगा और वस्तु की तरफ ध्यान ही नहीं देगा। आखिर में होगा यह कि वह अंगुली को ही काट खाये या उस पर झपट पड़े और जिस वस्तु की तरफ अंगुली से संकेत किया गया, उस तरफ जाये ही नहीं। वयस्कों में रहे पूर्वग्रह पर लोग मेरी तरफ देखते हैं मानों मैं ही वह संकेत करने वाली अंगुली हूं और अंत में मेरे ऊपर ही झपट पड़ते हैं।

उनके लिए प्रमाण के रूप में प्रस्तुत इन साधारण तथ्यों को समझ लेना असंभव हो गया है। उनकी राय में ये तथ्य किसी व्यक्ति-विशेष की सफलता से जुड़े हुए होने चाहिए। या तो वह इन्हें बताये या उनकी कल्पना करे।

यही कारण है कि हम मनुष्य के हृदय में अज्ञान वाले (काले) स्थान की बात करते हैं। यह अलग बात है कि वह सब बातों को समझने की क्षमता तो रखता है। यह काला स्थान आंख में रहे दृष्टि पटल के समान है तो यह वही अंग है जिससे सभी चीजों को देखा जाता है। बच्चे की नैतिक दृष्टि मनुष्य के हृदय के इसी काले स्थान पर पड़ती है और वहां बर्फ की-सी बाधा खड़ी कर देती है।

हमने उन खाली पन्नों की बात की है जो मानवता के इतिहास में रह जाते हैं। ये वही पन्ने हैं, जिन पर कुछ लिखा नहीं गया है। ये पन्ने बच्चों से संबंधित हैं।

मानव-इतिहास के बारे में लिखे गये विशालकाय और अनगिनत ग्रंथों में बच्चे कहीं दिखाई नहीं देते। वे (बच्चे) न तो राजनीति की चर्चा में स्थान पाते हैं और न सामाजिक निर्माण में ही। यही क्यों, वे युद्ध और उसके बाद होने वाले पुनर्निर्माण में दिखाई नहीं देते हैं। **सब जगह वयस्क ही बोलता है, मानों केवल वही इस संसार में रहता है। बच्चे को व्यक्ति के निजी जीवन तक सीमित रख दिया गया है। मानों वह ऐसा है जिसके लिए वयस्क के कर्तव्य हैं और उसे उनके लिए त्याग करना है। यदि वह (बच्चा) वयस्क के काम में बाधा डालता है तो बच्चा दंड का भागी हो जाता है।**

जब भी वयस्क भविष्य में इस संसार में धरती के स्वर्ग की कल्पना भी करता है तो उसमें केवल आदम और ईव के साथ सांप के आकार का खिलौना ही होता है। भविष्य के इस स्वर्ग में कोई बच्चा नहीं होता है।

हमारी सामाजिक मानसिकता ऐसी बन चुकी है कि वह इस विचार को समझ ही नहीं पा रही है कि हम बच्चे से भी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यही क्यों, वह हमें प्रकाश दे सकता है और पाठ भी पढ़ा सकता है। वह नई दृष्टि देने की स्थिति में भी है। वह जटिल समस्याओं के हल भी बता सकता है। मनोवैज्ञानिक भी उसकी तरफ खुले मस्तिष्क से नहीं देख पाते ताकि वे उसके द्वारा अवचेतन को समझ सकें। वे अब भी केवल वयस्कों की खराबियों के द्वारा ही इन्हें खोजते हैं और उसी के अनुसार तत्संबंधी रहस्यों को समझने का प्रयास भी करते रहते हैं।

व्यवस्था और अच्छाई

हम फिर नैतिक अवरोधों के विषय की तरफ लौटते हैं। वास्तव में बच्चों की प्रकृति-प्रदत्त बात को समझना बड़ा सहज है जिसमें बच्चे स्वप्रेरणा से प्राप्त अनुशासन और सामाजिक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं। यह बड़ा अद्भुत, नाजुक, सही तथा पूर्ण होता है।

जब हम उन तारों की तरफ, जो आकाश में झिलमिलाते हैं, निहारते हैं तब कभी यह सोचते हैं कि ये तारे कितने अच्छे हैं? ये तारे पूरी निष्ठा से अपने कक्ष में घूमते रहते हैं और पूरी दृढ़ता से अपनी स्थिति को बनाये रखते हैं। तब भी हम सिर्फ यही कहते हैं कि ये तारे ब्रह्माण्ड के नियमों का पालन करते हैं, पर हम उनकी अच्छाई की चर्चा नहीं करते हैं। हम तब भी यही कहते हैं कि विधाता की यह व्यवस्था कितनी आश्चर्यजनक है?

प्रकृति में जो व्यवस्था का तरीका है वह बच्चे के व्यवहार में भी दिखाई देता है।

व्यवस्था का मतलब हमेशा अच्छाई से नहीं होता है। यह व्यवस्था इस बात को भी सिद्ध नहीं करती है कि मानव जन्म से अच्छा है, न यह कि वह जन्म से बुरा है। यह केवल यही बताता है कि प्रकृति मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया में एक स्थापित व्यवस्था को अपनाती है।

व्यवस्था अपने-आप में कोई अच्छाई नहीं है अपितु वह इसे (अच्छाई को) प्राप्त करने का एक अपरिहार्य तरीका अवश्य है।

हमारे सभी बाहरी सामाजिक संगठनों को उनकी नींव के रूप में व्यवस्था की आवश्यकता होती है। ये सामाजिक नियम, जो नागरिकों तथा पुलिस बल को नियंत्रित करते हैं, सामाजिक ढांचे की आधारभूत आवश्यकता है। फिर भी इन संस्थानों की धारक सरकार बुरी, अन्यायपूर्ण और क्रूर हो सकती है। यहां तक कि युद्ध भी, जो सामाजिक जीवन में अच्छाई नहीं के बराबर लाता है और एक अमानवीय तरीका है, का आधार भी अपने सैनिकों से अनुशासन और आज्ञापालन की मांग करता है। सरकार का अच्छा होना और उसके द्वारा अनुशासन बनाये रखना, दो अलग-अलग चीजें हैं।

इसी तरह विद्यालयों में पहले अनुशासन को लागू किये बिना शिक्षा नहीं दी जा सकती। फिर भी शिक्षा देने के अच्छे और खराब तरीके हो सकते हैं।

यहां बच्चों में व्यवस्था बनाये रखने की बात रहस्यपूर्ण ढंग के, उनमें छिपे आंतरिक निर्देश से आई है। यह तभी संभव है जब उन्हें उस आंतरिक आवाज को सुनने की स्वतंत्रता दी जाती हो। उन्हें इस तरह की स्वतंत्रता देने के लिए, संक्षेप में, यह जरूरी हो जाता है कि बच्चों की रचनात्मक स्वयंस्फूर्त प्रवृत्ति के मार्ग में बाधा बनने के लिए हस्तक्षेप न हो। इसके लिए ऐसा वातावरण बनाया जाय ताकि उनके विकास की आवश्यकताओं को पूरे संतोष के साथ संपन्न किया जा सके।

हम उस स्तर तक पहुंचें, जब हम 'अच्छे' बन सकते हैं, उससे पहले हमें प्रकृति के नियमों की व्यवस्था में प्रवेश लेना होगा। फिर हम उस स्तर से अपने को ऊपर उठा सकते हैं और 'सुपर-नेचर' (प्रकृति से ऊपर) की तरफ बढ़ सकते हैं, पर जहां चेतना का सहयोग आवश्यक बन जाता है।

दुष्टता तथा बुराई के बारे में विचार करते समय हमें अव्यवस्था को भी अलग करना होगा ताकि नैतिक दृष्टि से निम्न स्तर तक न उतरा जा सके। प्राकृतिक नियमों के बारे में अव्यवस्था का मतलब हमेशा 'खराब' नहीं होता। यहां

यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतिक नियम ही सामान्यतया बच्चे के विकास में काम आते हैं। अंग्रेजी में बच्चे तथा वयस्क की बुराई को बताने वाले की बुराई को 'शैतानी' तथा दूसरे की 'दुष्टता' बताते हैं।

अब हम यह कह सकते हैं कि बच्चे की शैतानी आत्मिक जीवन के प्राकृतिक नियमों में आई अव्यवस्था को दर्शाती है। ऐसा उसके निर्माण के समय होता है। यह बुराई नहीं है, भले ही व्यक्ति के भविष्य के मानसिक कार्यकलापों से समझौता करना माना जा सकता है।

स्वास्थ्य और विचलन

बच्चों के विकास के समय उनके मानसिक स्वास्थ्य को सामान्य बताने के बजाय केवल स्वास्थ्य कहें तो सब बातें अपने-आप स्पष्ट हो जायेंगी, क्योंकि तब हमें वह उनके शरीर के अन्य क्रियाकलापों के बारे में सोचने को तैयार कर देगी। हम यह कहते हैं कि शरीर स्वस्थ है तब उसके सारे अंग ठीक ढंग से काम करते हैं। यदि यही कसौटी सभी मनुष्यों पर लागू होती है, चाहे वे शक्तिशाली हों या कमजोर या उनकी शारीरिक प्रकृति कैसी भी क्यों न हो, यदि कुछ अंग ठीक तरह से काम नहीं करते हैं तो फिर उन्हें कार्यप्रणाली संबंधी रोग हो सकते हैं। ये रोग अंगों से संबंधित नहीं होते। वे तो अंगों के असामान्य ढंग से कार्य करने का परिणाम होते हैं। कार्यप्रणाली संबंधी ये रोग स्वास्थ्य संबंधी उपचार, जैसे व्यायाम और इसी तरह के तरीकों से या उनकी सहायता से मिटाये जा सकते हैं। यही बात हमें मानसिक क्षेत्र में भी लागू करनी होगी। वहां भी ऐसे क्रियाकलाप हैं जो बाधा डालने वाले हो सकते हैं या उनमें बाधा डाली जा सकती है। ये सब किसी भी तरह जातीय खूबियों पर निर्भर नहीं करते और न किसी व्यक्ति-विशेष के तौर-तरीकों पर ही। इनका संबंध न उस अहंकार से होता है जो बड़े बनने का निश्चय कर चुके लोग पालते हैं या जिनके जीवन में उपलब्धियां नाम की कोई चीज नहीं होती। प्रतिभाशाली या सामान्य व्यक्ति, दोनों, के कुछ क्रियाकलाप सही ढंग के होने चाहिए। उन्हें शारीरिक रूप से स्वस्थ होना चाहिए।

अब बच्चों को लीजिए—वे सामान्य रूप से अनिश्चित, आलसी, अव्यवस्थित, हंगामी, जिद्दी, आज्ञा न मानने वाले आदि माने जाते हैं। वे शारीरिक कार्यप्रणाली की दृष्टि से बीमार होते हैं और शरीरशास्त्र के तरीके से सुधारे जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में उन्हें 'सामान्य' बनाया जा सकता है। तब वे अनुशासित बच्चे बन जाते हैं और हमारे कार्य के प्रारंभ की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण देने लगते हैं और जिन्होंने हमें इतना अधिक आश्चर्यचकित कर भी दिया है। इस सामान्यीकरण के परिणामस्वरूप बच्चे न केवल उन शिक्षकों की, जो उन्हें पाठ पढ़ाते हैं और

उनमें सुधार लाते हैं, आज्ञा का पालन करते हैं, अपितु प्रकृति के नियमों को अपना मार्गदर्शक पाते हैं। इस तरह वे फिर सामान्य ढंग से व्यवहार करना शुरू कर देते हैं। तब वे हमारे सामने अपने बाहरी व्यवहार से यह बताने लगते हैं कि आत्मिक प्राणीशास्त्र शरीरशास्त्र की तरह भीतर से कार्य करता है और वह भी आत्मा की भूल-भुलैया की जटिलता में, जो साधारण तथा **मोन्तेस्सोरी** पद्धति के नाम से जानी जाती है, वह इसी आवश्यक बिन्दु के चारों ओर घूमती है।

अब हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं और जिसका आधार हमारा चालीस वर्ष का अनुभव है और साथ ही विश्व की सभी जातियों में प्राप्त तत्संबंधी प्रमाण है कि **स्वयंस्फूर्त अनुशासन ही वह आधार है जिस पर अन्य सभी तरह के आश्चर्यजनक परिणाम टिके हुए हैं**। उदाहरण के लिए लिखावट में हुआ विस्फोट और अन्य सभी तरह की प्रगति को, जो बाद में सामने आई, रखा जा सकता है।

सबसे पहले 'सामान्य कार्य' को यानी स्वास्थ्य की स्थिति को प्राप्त किया जाना चाहिए और जब यह कार्य हो जाता है तो उसे हम 'सामान्यीकरण' कहते हैं।

अगर बच्चे को आगे बढ़ना है तो उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने को पहले सामान्य बनाये, जैसे कि एक बीमार मनुष्य तब तक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य नहीं कर सकता जब तक वह अपने स्वास्थ्य को पहले सुधार नहीं लेता।

आखिर मनोवैज्ञानिक क्या करते हैं? वे, संक्षेप में, उन वयस्कों को सामान्य बनाने का ही तो प्रयास करते हैं जो अपने सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में की जाने वाली प्रवृत्तियों में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं। चिकित्सालयों में समस्या बने बच्चों के बारे में भी यही प्रयास होता है। अर्थात् उन्हें सामान्य स्थिति में लाने का प्रयास ही होता है, ताकि वे सामान्य रूप से अपना काम करते रहें।

अब हमें यह मान लेना है कि शिक्षा की एक पद्धति यह स्वीकार करती है कि बच्चों को प्रारंभ से ही सामान्य बनाये रखना आवश्यक है और बाद में भी सामान्य स्थिति वाली प्रकृति को बनाये रखना है। उस पद्धति को अपनी नींव के रूप में एक तरह से 'मानसिक स्वास्थ्य' को रखना होगा, जो अच्छे बौद्धिक स्वास्थ्य को बढ़ाने में सहायता करेगी।

यह मनुष्य की अच्छी या बुरी प्रकृति के बारे में रहे दार्शनिक सिद्धांतों को नहीं छुएगी, न ही उस ऊंची अमूर्त कल्पना को, जिसमें सामान्य मनुष्य सचमुच में क्या है, यह बताया जाता है। यह तो व्यावहारिक तथ्य और प्रयास है जो सभी जगहों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है।

उन्नति का आधार

फिर यह तो सचमुच में एकदम स्पष्ट है। उन्नति (ग्रोथ) की अवधि में एक भीतरी आवेग होता है जो उसे अपनी उन्नति को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देता है ताकि व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। बच्चा तब पूरी तरह से प्रसन्न होता है जब उसे यह कार्य करने और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बड़े प्रयास करके यह कहा जा सकता है कि **बचपन का समय भीतरी जीवन का युग होता है जो सभी अंगों के विकास को परिपक्वता और पूर्णता की तरफ ले जाता है।**

बाहरी दुनिया का महत्त्व इतना ही है कि वह प्रकृति द्वारा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध कराती है। यही कारण है कि बच्चा किसी चीज की चाहना नहीं करता। जो चीज उसकी आवश्यकता के अनुकूल होती है, उसे भी वह तब तक काम में लेता है जब तक वह लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक बनती है।

जिस तरह बच्चा अपने से बड़े बच्चे से डाह नहीं रखता उसी तरह वह उन चीजों की चाहना भी नहीं करता जो उसके काम की नहीं होती हैं। यह समय-विशेष से संबंधित बात है।

इस तरह हम देखते हैं कि शांत और प्रसन्न रहने वाला बच्चा अनुकूल वातावरण में अपने उद्देश्यों और कार्यों को चुन लेता है।

बड़ा बच्चा छोटे बच्चे में प्रतियोगिता करने की इच्छा पैदा नहीं कर सकता। इसके विपरीत छोटे बच्चे में बड़े के प्रति प्रशंसा और निष्ठा का भाव रहता है। वह बड़े बच्चे में अपनी भविष्य की तसवीर देखता है जो निश्चित भी है, क्योंकि छोटा बच्चा तो बड़ा होगा ही, यदि वह बीच में मर नहीं जाता। बड़ा बच्चा केवल बड़ा होने के कारण ही छोटे बच्चे में डाह के भाव पैदा नहीं कर सकता।

वे भाव, जिन्हें 'बुरा' कहा जा सकता है, ऐसे में प्रकट ही नहीं होते। छोटे बच्चों की शैतानियां तो आत्म-रक्षा की ही अभिव्यंजना होती हैं या फिर अपनी इच्छा के अनुसार कार्य न कर पाने के कारण उत्पन्न निराशा का भाव होती हैं। यह वह समय होता है जिस पर बच्चे का सारा भविष्य निर्भर करता है और जिसकी हर घड़ी उसको प्रगति की तरफ ले जाती है। शैतानी भी एक तरह का आंदोलन हो सकता है जो मानसिक भूख का कारण माना जा सकता है, जब बच्चा वातावरण से प्रेरणा प्राप्त करने से वंचित कर दिया जाता है। यह भी संभव है कि तब वह निराश हो जाता है जब उसे परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार करने से रोका जाता है। ऐसे में उसका अस्पष्ट उद्देश्य, जो उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति से और दूर ले जाता है, बच्चे के जीवन में त्रासदी बन कर उभरता है। बात यह है कि तब बच्चा अपने मुख्य स्रोत व उसकी ऊर्जा से अलग कर दिया जाता है।

इसके बहुत समय बाद, मनुष्य के इस रूप में, इस तरह उसका प्रथम रेखाचित्र बनाने का काम पूरा हो जाता है और बच्चा, जो न्यूनाधिक रूप से जीवन की कल्पना को प्राप्त करने में सफल हो जाता है, बाहरी चीजों में दिलचस्पी लेने लगता है और उसी समय उसमें दूसरों की सफलता से ईर्ष्या करने की स्थिति आ सकती है। तब बात दूसरी हो जाती है और 'अच्छाई' या बुराई के बारे में निर्णय देने की स्थिति आ सकती है। तब हम समाज को प्रभावित करने वाली नैतिक व्यवस्था की कमियों के बारे में बोल सकते हैं और तब शिक्षा के सुधारात्मक हस्तक्षेप को उचित ठहराया जा सकता है।

महंगी शिक्षा, सीधे सुधार और कमियों को दबाने का सामान्य दृष्टिकोण इस चरण में भी गलत है। सुधार संभव है, लेकिन तब ही, जब व्यक्तित्व के विकास के लिए विस्तार, उचित 'स्थान' देने और विस्तार के लिए सामने लाना चाहिए। ये हमारी तरफ के व्यक्तियों में भी दिखाई देते हैं। यह तो एक तरह से रोटी के एक टुकड़े के लिए लड़ाई जैसी है। धनिक तो उन्हें विश्व द्वारा दी जाने वाली संभावनाओं से आकर्षित होते हैं। ईर्ष्या और प्रतियोगिता तो एक तरह से सीमित दृष्टिकोण वाले प्रतिबंधित मानसिक विकास के चिह्न मात्र हैं। जिसके पास 'स्वर्ग' को जीतने की दृष्टि है, वह कभी भी सारी दुनिया द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता और वह आसानी से क्षणिक व सीमित संसाधनों को आसानी से छोड़ने को तैयार हो जायेगा।

यही बात शिक्षा पर लागू होती है, जो व्यक्ति को तत्कालीन हितों के घेरे से बाहर ले जाती है और आगे बढ़ाती है। फिर जिस पर विजय पानी है उसकी सीमितता के कारण ही ईर्ष्या और संघर्ष पैदा होते हैं। विशाल क्षेत्र दूसरी तरह की भावनाएं जगाता है। ये भावनाएं गंभीर विकास को पैदा करती हैं और यही वास्तविक विकास है।

विस्तृत शिक्षा ही ऐसे में एक मंच है जिसके द्वारा कुछ नैतिक कमियों को मिटाया जा सकता है। शिक्षा के प्रथम चरण में उस दुनिया को विस्तार देना है जिसमें आज का बच्चा अपने को पाता है। और इस चरण की बुनियादी तकनीक में उसको इस बंधन से मुक्त कराना होना चाहिए, जो उसे आगे बढ़ने से रोकता है। हमें इनके कल्याण के उद्देश्यों को कई गुना बढ़ाना चाहिए, ताकि आत्मा में दबी हुई प्रवृत्तियों की संतुष्टि हो सके और वे उसकी (बच्चे की) पहुंच के भीतर आ सकें। उसे बिना किसी सीमा के, विजय के लिए आमंत्रित कीजिए। यह न हो कि उसके आस-पास जो कुछ है उसे प्राप्त करने की उसकी इच्छा को ही दबाया जाये। ऐसा नहीं होना चाहिए। इसी तर्ज पर सारी संभावनाओं की प्राप्ति के लिए द्वार खोल दीजिए तभी हमें बाहरी नियमों के प्रति, जो समाज द्वारा स्थापित किये

गये हैं, आदर की भावना सिखानी चाहिए। यह समाज, जो मनुष्यों से बनता है, दूसरी प्राकृतिक शक्ति है।

अंत में, सारांश रूप में नैतिक प्रश्न रह जाता है और वह भी नैतिक अच्छाई के बारे में छोटे बच्चे को लेकर कोई चर्चा नहीं की जा सकती। जब बच्चा तर्क की बात करने लगे तभी दर्शन की समस्याएं इस क्षेत्र में लायी जा सकती हैं। यूं नैतिक दार्शनिक भी बुराई से इसी तरह निपटते हैं और व्यक्ति को उससे (बुराई से) पार पाने की बात कह करके ईश्वर तक पहुंचने का लक्ष्य घोषित करते हैं। वास्तव में जो 'मुख्य पाप' के विरुद्ध लड़ना चाहते हैं, वे महान् मुक्ति की तरफ बढ़ते हैं। ❑

दो

विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में बचपन संबंधी पूर्वग्रह

सभ्यता की ओर

हमारे विद्यालयों में, जहां यह शैक्षणिक अनुभव बराबर जारी रहा वहां, व्यवहार में इसकी प्रगति और साथ ही सभ्यता के 'विस्तार' और ज्ञान की 'वृद्धि' से संबंधित कतिपय प्राकृतिक प्रवृत्तियां देखी गईं। यह वास्तव में प्रकृति के मार्ग पर चलने की बात है। वहां सिखाने की समस्याएं बदल जाती हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षक की असली समस्या सीमित दायरे में ज्ञान देना नहीं है अपितु बच्चों में अधिक जानने की उनकी इच्छा को नियंत्रित करना और उन्हें निर्देश देना है, जैसा कि युवा घोड़ों को, जो ऊर्जा से भरपूर होते हैं, उन्हें पालतू बनाना होता है। यहां आवश्यकता उन्हें नियंत्रित करने के लिए मार्ग दिखाना है, न कि चाबुक मार कर उन्हें भगाना।

सभ्यता की ओर बढ़ने का तरीका अलग है। साधारण विद्यालयों में शिक्षा देने की तकनीक एक धीमी गति वाली चरणबद्ध प्रगति है। इसमें पहले ही आने वाली संभावित कठिनाइयों को श्रेणीबद्ध कर लिया जाता है। तैयार वातावरण में बच्चे छोड़ दिये जाते हैं। इसके विपरीत सामने लाई गई असली तकनीक, जिसके बारे में हमें कोई संदेह नहीं है, पुरानी ही होती है।

बच्चा वास्तव में तब ही कुछ सीखता है जब वह अपनी शक्ति (ऊर्जा) को काम में लेता है। प्राकृतिक मानसिक प्रक्रिया के अनुसार ऐसा ही होना चाहिए। पर कभी-कभी यह बहुत भिन्न तरीके से काम करता है, हालांकि सामान्य रूप से सोचा कुछ और ही जाता है। यही कारण है कि यह असफल होता है और अपने को साधारण विद्यालयों में किये गये बर्ताव के पीछे छिपा लेता है। विद्यार्थी अपनी आश्चर्यजनक उपलब्धियां बता सकता है, यदि शिक्षक वैज्ञानिक तकनीक को अर्थात् अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप को अपनाता है। इससे उसका हस्तक्षेप दिखाई नहीं देता है, तभी बच्चे के स्वाभाविक विकास में वह सहायक बन सकता है।

हमारे बच्चों द्वारा प्रदर्शित, समय से पहले तथा विस्तार वाली, सांस्कृतिक प्रगति इस तरह की सराहना और साथ में विरोध भी सामने लाती है जो गलत समझ

या समझ के अभाव पर आधारित होती है। यह बच्चे के मनोविज्ञान से संबंधित एक सिद्धांत से जुड़ी हुई है। **यह सिद्धांत है कि बच्चा अपनी ही प्रवृत्ति से सीखता है और वातावरण से संस्कृति को प्राप्त करता है, न कि अपने शिक्षक से। इससे भी आगे जिसे अब सफलतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है, वह है अर्द्धचेतना की शक्ति को कार्य की प्रवृत्ति में बदलना। यूं भी नई सीख ग्रहण करने वाला मस्तिष्क प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार सीखने और उसे अभिव्यक्त करने को स्वतंत्र रहता है।**

यह भी कहा जायेगा कि शिक्षक भी वातावरण का एक हिस्सा है और वास्तव में वह इस प्राकृतिक प्रक्रिया में सहायक बनने के लिए हस्तक्षेप करता है। फिर भी यह एक तथ्य है कि बच्चा केवल शिक्षक के प्रयासों से ही नहीं सीख सकता है जो उन्हें बातें समझाता है और यही सामान्यतः माना भी जाता है; यह शिक्षक भले ही शिक्षकों में उत्तम और पूर्ण क्यों न हो। इसी तरह सीखते समय बच्चा मानसिक बनावट के आंतरिक नियमों के अनुसार चलता है। फिर बच्चे और वातावरण के बीच सीधा आदान-प्रदान चलता रहता है जबकि शिक्षक अपने उद्देश्य और पहल के कारण मुख्य रूप से एक कड़ी का काम करता है। वह जुड़ाव का एक तरह से आभास ही देता है।

सीखने की प्रक्रिया को भी अब गहराई से लिया जा रहा है। साथ ही हमारे अनुभव सघन हो रहे हैं, क्योंकि इन अवधारणाओं को अधिक निकटता से जानने की इच्छा जो है। कई बच्चे, जिन्हें उचित परिस्थितियों में रखा गया था, गणित में गहरी दिलचस्पी रखते थे और वह भी बड़ी संख्या में। वे केवल गणित की बड़ी समस्याओं में ही नहीं, अपितु उच्च स्तर की गणना, जैसे संख्या की शक्ति जानना, वर्गमूल तथा घनमूल निकालना और विशेष रूप से रेखागणित की समस्याओं में दिलचस्पी लेते देखे गये। हमने उनमें एक साथ कई भाषाओं को सीखने की क्षमता को भी पाया। ऐसा उन्हें व्याकरण का अध्ययन करते समय देखा गया। उदाहरण के लिए भारत के आठ-वर्षीय बच्चे को लेते हैं जिसने संस्कृत के पद्य को सीखने में बड़ी रुचि दिखाई। यद्यपि संस्कृत को मातृभाषा कहा जाता है और उसने हिन्दी से वैदिक कथाओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया, यद्यपि उसकी मातृभाषा गुजराती थी जो दूसरी भारतीय भाषा है। इस तरह उसकी संस्कृति जीवित और मातृभाषा से लगाकर विदेशी भाषा तक फैली हुई थी।

इसके साथ उनका प्राकृतिक विज्ञान, उनकी नामों को याद रखने की विलक्षण स्मृति और पौधों एवं पशुओं के वर्गीकरण की जटिल प्रक्रियाओं को प्रसन्नता से सीखने से भी जोड़ा जा सकता है। यह वर्गीकरण न केवल कई बार अनिश्चित होते हैं, अपितु स्मृति पर अनावश्यक रूप से भार बनते दिखाई देते हैं

और सरकारी स्तर पर चिंतन से इसे कम-से-कम विद्यालय के पाठ्यक्रम से हटाने का प्रयास हो रहा है। इनको व्यर्थ के प्रयास माना जाता है।

'वर्गीकरण' में यह रुचि चलित चिह्नों की सहायता से अपने को प्रकट करती है। बच्चों में आनंद की भावना तब प्रकट होती है जब वे इन चित्रों को मानसिक रूप से व्यवस्थित करते हैं और उन्हें उचित स्थान पर रखते हैं। इसे स्पष्ट रूप से देखा भी जा सकता है। यह निश्चित रूप से स्मृति का अभ्यास नहीं था, अपितु निर्माण की एक प्रवृत्ति थी जो छोटे बच्चे के गीली मिट्टी में खेलने जैसी थी। बहुत-सी कल्पनाएं तथा साथ में नाम भी, जो अन्यथा स्मृति से 'मिट' गए होते यदि इस तरह इकट्ठा करके तथा बनाकर रखे गये नहीं होते। यह तो गणित वाले यंत्र की तरह है जो दशमलव प्रणाली संबंधी अभ्यासों में काम में आता है। इसमें इकाइयों को इस तरह से क्रमिक रूप से इकट्ठा किया जाता है जिससे गणित एक तरह से इकाइयों की व्यवस्था-सी बन जाती है। ऐसा ही इतिहास में भी होता है जहां घटनाओं को उनकी तिथियों के हिसाब से रख दिया जाता है। इधर भूगोल, जो दिमाग में एक ऐसी पद्धति का निर्माण करती है जिसमें समय और अंतर के हिसाब से सांस्कृतिक तथ्य होते हैं।

प्रकृति की रचनात्मक शक्तियां भी इसी तरह आगे बढ़ती हैं। बच्चों में अपनी मातृभाषा के बनने लिए प्रारंभ में भाषा का निर्माण शब्दों की ध्वनि तथा व्याकरण अर्थात् वह क्रम, जिसमें विचार व्यक्त करने के लिए शब्दों को रखा जाता है। यह वह आधारभूत निर्माण है जो उस समय पूरा होता है जब बच्चा दो वर्ष की आयु के पास पहुंच चुका होता है। यद्यपि उस समय शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही रहती है। इसके बाद भाषा स्वयंस्फूर्त रूप से नये शब्दों से, जो अब तक स्थापित क्रम में स्थान प्राप्त कर चुके होते हैं, समृद्ध होने लगती है।

हमने पाया कि हमारे द्वारा काम में ली गई प्रक्रिया, जो नौ वर्ष की आयु के बच्चों के लिए होती है, अधिक आयु वाले बच्चों के लिए भी काम में ली जा सकती है। हम इस बात को दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि विद्यालयी जीवन के सभी चरणों में यह आवश्यक हो जाता है कि विकास के दौरान बच्चे की व्यक्तिगत प्रवृत्ति के मार्ग में कोई बाधा न खड़ी की जाय। तभी वे आत्मिक विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया को मान सकते हैं। यह सत्य है कि शिक्षक या प्राध्यापक को उस स्थिति में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होती है जब संस्कृति ऊंचे स्तर पर पहुंचती है, लेकिन यह भूमिका शिक्षण में रुचि को जगाने में अधिक होनी चाहिए न कि वास्तविक शिक्षण में। जब बच्चों की किसी विषय में रुचि जाग जाती है तब वे उसके अध्ययन में अधिक समय देने लगते हैं। दूसरे शब्दों में वे उसमें अपना रास्ता खोजने लगते हैं, उस समय तक जब कि वे अपने अनुभवों से उसमें एक तरह की परिपक्वता प्राप्त

नहीं कर लेते। फिर बौद्धिक सम्पदा प्राप्त करने के बाद उसे और आगे बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है। बेचारे शिक्षक को अपनी सीमा के बाहर जाकर शिक्षण का कार्य करना पड़ता है। इसमें उसे अपने द्वारा दी जा रही शिक्षा के बाहर जाकर भी काम करना पड़ता है। उसकी कठिनाई यह नहीं है कि वह अपने शिष्यों को सिखाने की नहीं है अपितु यह है कि उन शिष्यों पर अचानक आने वाले दायित्वों को कैसे जाने और उनका निवारण करे। उसे उन चीजों को तुरत-फुरत पढ़ाना पड़ता है जिनके बारे में उसने सोचा भी न हो। दूसरे शब्दों में निर्देश अपने तरीके से विस्तार पाते रहते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि लंबे विश्राम के बाद, उसे छुट्टी कह दीजिए, बच्चे न केवल पहले सीखी गई बातों को याद रखते हैं अपितु उनके संस्कार और भी समृद्ध हो जाते हैं जैसे कोई जादू हो गया हो। छुट्टियों के बाद वे पहले से अधिक जानने लग जाते हैं। इस तरह वातावरण से सीखने की उनकी शक्ति और जग जाती है।

स्व-स्फूर्त प्रवृत्ति की प्रक्रिया ऐसी है जिसमें कभी स्वैच्छिक रूप से सघन तथा जटिल प्रयास भी आ जाते हैं। उन प्रयासों में सारी बौद्धिक शक्तियां शामिल हो जाती हैं जो घंटों तक और यहां तक कि लगातार कई दिनों तक बनी रहती हैं। मैं उस बच्चे को याद करती हूं जो एक नदी—**राइन** का चित्र बनाना चाहता था, उसकी सहायक नदियों के साथ। अतएव इसके लिए उसने लंबे समय तक भूगोल संबंधी लेखों की खोज की जिनका उसकी विद्यालय की पुस्तकों से कोई लेना-देना ही नहीं था। उसने इसके लिए ग्राफ कागज काम में लिया, जैसा कि इंजीनियर काम में लेते हैं। साथ ही उसने परकार तथा अनेक दूसरे यंत्रों का भी उपयोग किया। वह अपने प्रयास में सफल रहा क्योंकि उसने इस कार्य में बड़ा धैर्य दिखाया। वैसे किसी ने भी उससे ऐसे प्रयास करने की आशा कभी नहीं की थी।

दूसरी बार मैंने एक लड़के को देखा जिसने एक बहुत बड़ी संख्या, जिसमें 30 संख्याओं को 25 संख्याओं से गुणा करने का संकल्प किया। उसका जो आंशिक परिणाम आया, वह इतना बड़ा था कि लड़के को इससे बड़ा अचरज हुआ। उसे इस कार्य में अपने दो मित्रों की सहायता लेनी पड़ी जिन्हें कागज के टुकड़े को आपस में चिपकाना पड़ा, ताकि यह बड़ा कार्य जल्दी ही संपन्न हो सके। दो दिन लगातार काम होने के बाद भी गुणा करने का यह कार्य संपन्न न हो सका। वह अगले दिन ही पूरा हो सका। फिर भी लड़कों में थकान के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उन्हें अपने काम पर गर्व था और अपनी उपलब्धि पर भी उनको संतोष था।

यही क्यों, मैं उन चार या पांच बच्चों को भी याद करती रहती हूं जिन्होंने पूरी वर्णमाला को लेकर एक नवाचारी प्रयोग इस बार भी किया। इस अभियान में कागज के टुकड़ों को चिपकाने के कार्य में सहयोग लेना पड़ा। जिससे कागज की लंबाई आठ मीटर तक पहुंच गई।

इन धीरज से किये गये कार्यों ने मस्तिष्क को एक तरह से सुदृढ़ ही किया। यह उसी तरह का कार्य था, जिस तरह शारीरिक प्रशिक्षण शरीर को सुदृढ़ करता है।

जब बच्चा कठिन समझे जाने वाले लक्ष्य को पा लेने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तब वह ऐसा बिना लिखे कर डालता है। इस तरह वह यह बताता है कि उसमें अंकों और उनसे जुड़े कार्य को अपने मस्तिष्क में बनाये रखने की क्षमता है। यद्यपि बच्चा अपने मन में यह सब काम कर डालता है जबकि शिक्षक उसे कागज पर ही यह कार्य कराता है, क्योंकि वह दूसरे तरीके से कर नहीं पाता है। अंत में बच्चे ने अपने कार्य के परिणाम भी घोषित कर दिये। शिक्षक ने उसके इस परिणाम को सही नहीं बताया। ये वही शिक्षक थे जिन्होंने अनेक अंग्रेजी विद्यालयों का काम संभाल रखा था और जो हालैंड में हमारे विद्यालयों का निरीक्षण करने आये थे। शिक्षक के निर्णय से बच्चा जरा भी विचलित नहीं हुआ और थोड़ी देर सोचने के बाद बोला—हां। मैं जानता हूं कि मैंने कहां गलती की है। और उसने परिणाम भी दे दिया।

इस तरह जटिल गणना में उसके द्वारा बाद में किये गये सुधार से अधिक आश्चर्य हुआ, बजाय उसके द्वारा किये गये गणना के कार्य से। **इससे साफ है कि बच्चे के मस्तिष्क में एक विशेष शक्ति होती है जो विभिन्न चरणों में प्राप्त उपलब्धियों को बनाये रखती है।**

फिर एक बार बच्चों ने वर्गमूल का सार उनको बताये गये तरीके से ही निकाला। पर वह वर्गमूल अपने तरीके से निकालने में अधिक रुचि रखता था और उसने अलग तरीके से निकाला भी, पर वह उसे समझा नहीं सका।

हम इस तरह के अंतहीन उदाहरण दे सकते हैं। उनमें एक असाधारण उदाहरण भी था जो एक बच्चे द्वारा बड़े धैर्य के साथ किया गया काम था। उसने पूरी पुस्तक का व्याकरण संबंधी विश्लेषण कर डाला था। उसने इस काम को बिना रोके पूरा करके ही छोड़ा जिसमें उसे कई दिन लगे। इस बीच उसने दूसरा कोई काम नहीं किया।

ये सारे काम मानसिक अभिव्यंजना के एक तरह के रचनात्मक तंत्र को उद्घाटित करते हैं जो बाहरी उपयोगिता-रहित अभ्यासों से अभिव्यक्त होते हैं। हालांकि उनकी व्यावहारिक उपयोगिता भी नहीं होती। फिर उनको ऊपर से थोपना भी संभव नहीं होता जैसा कि शारीरिक कसरत में होता है क्योंकि इसमें एक तरह से जीवंत और अविराम रुचि बनाये रखना संभव नहीं होगा। ऐसे में उन चीजों में, जो बहुत आकर्षक नहीं होती हैं और साथ में अपेक्षाकृत उद्देश्यहीनता के कारण भी, निरंतर रुचि और ध्यान बनाये रखना संभव नहीं रहता है।

उनके लिए स्वयं स्फूर्त प्रयासों की आवश्यकता रहती है जिन्हें बाहर से प्रेरित करना असंभव-सा होगा। तो भी समय का यह अपव्यय कई बच्चों द्वारा विभिन्न धंधों में किया जाता है, पर वे ही बच्चे संस्कृति के साथ कला की सभी शाखाओं में विशेष रूप से प्रगति करते हैं। भारत के एक विद्यालय में, जहां संगीत और नृत्य के लिए विशेष शिक्षक रखा गया था, बच्चों का एक समूह अकसर नृत्य कक्षा में इकट्ठा हो जाया करता था। वह भी उस समय जबकि शिक्षक वहां नहीं होता था और वे ऐसे नृत्यों में सुधार कर लेते थे जिन्हें शिक्षक ने उन्हें सिखाया नहीं था। वे भारतीय नृत्य की परंपरागत भाव-भंगिमाओं से अलग होते थे। कई बच्चे वाद्ययंत्रों को बजा लेते थे, जिनकी लय अलग ही होती थी और उसके आविष्कारक भी वे ही होते थे। यह सब सघन रुचि को दिखाता है जो केवल आनंद से अधिक ही होता था। समय-समय पर ये संगीत के अनपेक्षित प्रकार विद्यालय में सुने जाते रहे हैं।

हमारा यहां सामान्य शिक्षा और शैक्षिक मानसिकता की बहुत भिन्न अवधारणाओं से भी सामना हुआ जिनका आधार इच्छाशक्ति और सतत प्रयास ही हैं। ये बुद्धि या बाहरी दबाव के प्रतिबिंब का परिणाम मानी जाती हैं। यहां, एक तरह से जिनके बारे में सोचा भी नहीं जाता और जो संदेह से परे हैं ऐसे प्रकटीकरण अकस्मात् सामने आ जाते हैं जिनका व्यावहारिक या प्रयोगवादी उपयोग से कोई संबंध नहीं होता। फिर भी सभ्यता की वास्तविक प्राप्ति की दिशा में, प्रगति में, ये आंतरिक शक्तियां अधिक सहायक होती हैं। ऐसा स्वेच्छा से और थोपे गये प्रयासों से संभव नहीं है। इस तरह प्राप्त परिणाम का सीधा संबंध धीरज के इन आश्चर्यजनक अभ्यासों तथा निरंतर काम से नहीं है। ऐसा लगता है कि उनका संबंध आंतरिक व्यवस्था से अधिक है जो व्यक्तित्व के विकास को संपूर्णता की तरफ ले जाने को प्रेरित करती है।

वास्तव में इसका एक अप्रत्यक्ष परिणाम 'चरित्र' का निर्माण है। बच्चे न केवल सभ्यता की विशिष्ट प्राप्ति के रूप में प्रगति करते हैं, अपितु अपने क्रिया-कलापों को अधिक नियंत्रित कर पाते हैं व अपने व्यवहार के बारे में अधिक आश्वस्त रहते हैं। ऐसा वे बिना कड़ा रुख या बिना किसी हिचकिचाहट के करते हैं क्योंकि उनमें न तो कोई भय होता है और न कायरता ही।

वे अन्य लोगों द्वारा अपनाये गये तरीकों को मान लेते हैं। साथ ही पर्यावरण और विभिन्न प्रकार की अत्यंत आवश्यकताओं को भी अपना लेते हैं। जीवन में आनंद के साथ अनुशासन भी उनके क्रियाकलापों का परिणाम माना जा सकता है, पर उनकी ये प्रवृत्तियां आंतरिक प्रेरणा से अधिक प्रेरित होती हैं न कि अन्य किसी प्रकार की बाहरी परिस्थितियों से। बच्चे इसी आधार पर तब वातावरण पर अधिक

नियंत्रण प्राप्त करने की अधिक क्षमता रखते हैं। इतना ही नहीं, वे अपना महत्त्व भी समझने लगते हैं। चरित्र की दृष्टि से वे अधिक शांत व साफ-सुथरे होते हैं और इसी कारण से वे दूसरे लोगों को अपने अनुकूल बना लेते हैं।

अपने अनुभवों के दौरान हमें इस मामले में भी पूर्वग्रहों के कारण अधिक कड़ा विरोध झेलना पड़ा। यद्यपि सभी ने संस्कृति के अभाव की शिकायत की और आज के समय में सभ्य जीवन के लिए इसे नितांत जरूरी बताया, फिर भी हमारे विद्यालयों में संस्कृति के विकास का भारी विरोध हुआ। ऐसा भी लगा, जैसे कि बच्चे को हमारे से बचाने की आवश्यकता आ पड़ी है। निष्क्रिय मानसिकता वालों ने बच्चों के इन प्रकटीकरणों को शैक्षणिक और उससे भी अधिक इन्हें मनोवैज्ञानिक गप या नास्तिकता बताया और हमारे तंत्र का जोरदार विरोध किया, जो इस विकास में सहायता करता है।

इस मामले में सामान्य विद्यालयों के बच्चों में पाए जाने वाले मानसिक तनाव की कथाएं सामने लाई गईं और हमें इस बात का दोषी ठहराया गया कि हम बच्चों की बौद्धिक ऊर्जा पर उन्हें बलात् लाद रहे हैं। हमारी तथाकथित बौद्धिकता की निंदा की गई जबकि हम तो इस मामले में एकदम निर्दोष हैं।

हमने जिनका वर्णन किया है, वे तो सामान्य तथ्य हैं और उनमें भी थोड़े-से, जिन्होंने हमें और दूसरों को भी आश्चर्यचकित किया। इनमें से बाद के मामलों में आचरण के साथ संदेह के भाव भी तो हैं। कौन ऐसा हो सकता है जिसने बच्चों में इस तरह की शक्तियों के प्रकटीकरण के भाव जगाये हों। मैंने तो कदापि नहीं। बच्चों ने स्वयं ही इन्हें उद्घाटित किया और हमने कुछ नहीं किया और हमने अपने विद्यालयों में छाये स्वतंत्रता के वातावरण में उनका सम्मान किया। हमने तो उनके द्वारा मांगी गई सहायता के उत्तर में उनका साथ दिया। अलबत्ता हमने इन शक्तियों के स्रोतों को समझने का प्रयास किया और उन परिस्थितियों, जिनके कारण ऐसा संभव हुआ, की जांच करने का प्रयास भी किया। इतना ही नहीं, हमने इस ज्वाला-मुखी के 'विस्फोट' को संभव बनाया। इस अवधारणा की विश्वव्यापी पुनरावृत्ति, और वह भी भिन्न-भिन्न जातियों तथा सभ्यताओं और वह भी हमसे अधिक आदिम सभ्यता के बच्चों में ऐसा होने की स्थिति ने हमें इस परिणाम पर पहुंचने को विवश किया कि हम उन 'सामान्य' संभावनाओं के सामने खड़े हैं जो सचमुच में मानवीय शक्तियां हैं और जो बहुत लंबे समय से छिपी रही हैं। इसका कारण वयस्क के बारे में आत्मिक विकास के नियमों को मान्यता न देना है। अब तक वे अनजान बनी हुई हैं क्योंकि इस मामले में वयस्कों को वह सहायता नहीं दी गई जो वे शिक्षा से प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

बच्चे का सामाजिक प्रश्न

जो परिणाम हमने प्राप्त किये उन्हें सदियों पुराने दुराग्रहों के रूप में आई भारी बाधाओं के रहते प्राप्त करना सरल नहीं था। बाल-जीवन और बाल-शिक्षा का क्षेत्र ऐसा है जिसके बारे में हम सबने पृथ्वी पर मानव के आगमन के प्रारंभ से ही अनुभव किया है और इसमें वे आज भी वही अनुभव प्राप्त कर रहे हैं। ये अनुभव बहुत समय से इकट्ठे होकर विश्वव्यापी रूप लेते रहे। दुर्भाग्य से विज्ञान की अनेक आधुनिक शाखाओं या फिर विज्ञान की ओर से ऐसे प्रयास होते हैं जिनमें बाल-व्यवहार की अभिव्यक्ति से लेकर चारों ओर सतही विकास हुआ है। वास्तव में यह बाहरी परिस्थितियों का प्रभाव कहा जा सकता है। इससे उन पूर्वग्रहों के साथ आसानी से गठबंधन हो जाता है जो किसी भी वयस्क में बच्चे के प्रति होते हैं या पोषण पाते हैं। यही कारण है कि बाल-जीवन की जो अभिव्यक्ति हम करते हैं वह लोगों द्वारा मानी जाती है, परन्तु उन पर पूर्वग्रहों का पर्दा पड़ा रहने से उन्हें दिखाई नहीं देती अर्थात् पूर्वग्रह उन्हें अंधा बना देता है। ये पूर्वग्रह इतने विश्वव्यापी होते हैं कि उन्हें उसी रूप में स्वीकार करना कठिन होता है। तथ्यों की साक्षी के द्वारा इनका समर्थन करके भ्रांतियां फैलाई जाती हैं। इसका कारण है कि सभी या प्रायः सभी बच्चे को उसी दृष्टि से देखते हैं जैसा वह सामान्य रूप से जाना जाता है, न कि जैसा कि वह (बच्चा) है और अब भी वह अनजान इकाई जैसा है। यदि सचमुच में कोई वक्ता अपने श्रोताओं को यह कहे कि शिक्षा में सुधार लाने के लिए अनेक पूर्वग्रहों को छोड़ना होगा तो उनमें से जो प्रगतिशील हैं और बिना पक्षपात वाले हैं उनका ध्यान उन पूर्वग्रहों की तरफ जाने लगेगा और वे यह सोचने लगेंगे कि बच्चों को क्या सिखाया जाना चाहिए और क्या नहीं, पर बच्चे के स्वयं के संबंध में रहे पूर्वग्रहों की तरफ उनका ध्यान नहीं जायेगा। वे सोचते हैं कि यह तो पूर्वग्रहों व कमियों को हटाने से संबंधित प्रश्न है जो शिक्षण में रही हैं ताकि वे नई पीढ़ी तक न पहुंचें। कुछ का विचार ऐसा है कि धार्मिक कठमुल्लेपन वाली बातें नहीं सिखाई जानी चाहिए जबकि दूसरे सोचते हैं कि असामाजिक श्रेणी-भेद वाली कुछ बातें हटा दी जानी चाहिए। यह भी माना जाता है कि हमारे समाज में रही कुछ औपचारिक आदतें भी अब काम की न रहने से हटा दी जानी चाहिए।

फिर भी ऐसा दिखाई देता है कि अब भी पूर्वग्रह हैं जो हमें बच्चे को उस दृष्टिकोण से भिन्न देखने से रोकते हैं, जिसे हम सामान्यतया देखते आये हैं।

अब तक जो बाल-मनोवैज्ञानिक और बाल-शिक्षा का अध्ययन करते हैं, वे उन सामाजिक पूर्वग्रहों को तो ध्यान में रखते ही हैं जो आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों को बहुत परेशान करते हैं, लेकिन दूसरे पूर्वग्रहों, जो बच्चों से सीधे संबंध रखते हैं,

को भी ध्यान में रखना चाहिए। ये पूर्वग्रह उसके (बच्चे के) जीवन की असामान्य परिस्थितियों, उनकी प्राकृतिक देन और शक्तियों से भी संबंध रखते हैं।

धार्मिक पूर्वग्रहों को मिटाने से यह तो संभव होता है कि धर्म की महत्ता और महानता की समझ बेहतर होगी, लेकिन उससे बच्चे के प्राकृतिक व्यक्तित्व को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। इसी तरह समाज में रहे जातियों से संबंधित पूर्वग्रहों को हटाने से समाज के सदस्यों के बीच समझ और सद्भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायता मिलनी संभव है, लेकिन इससे भी बच्चे की बेहतर समझ प्राप्त करने में कोई सहायता नहीं मिलेगी। यदि हम समाज में रही अनेक औपचारिकताओं को व्यर्थ और बीते समय की मानते हैं तो हम सामाजिक रिवाजों में तो सुधार कर सकते हैं, पर हम बच्चे को फिर भी अच्छी तरह समझ नहीं पायेंगे।

वयस्कों में जो बातें सामान्य धारणा के अनुसार सामाजिक प्रगति में अंशदान करने वाली समझी जाती हैं उन्हें बचपन की मुख्य आवश्यकताओं को परे रखकर ही समझा जाता है। वयस्कों ने हमेशा अपने को ही समाज में और उसकी प्रगति में देखा है। बच्चे को समाज के बाहर मानकर चला गया है और उसे जीवन के समीकरण में अज्ञात भाग माना गया है।

अतएव वयस्कों में एक पूर्वग्रह ने जड़ जमा ली है—एक कल्पना कि बच्चे के जीवन को केवल शिक्षण के द्वारा बदला या सुधारा जा सकता है। **यह पूर्वग्रह उस तथ्य की समझ बनाने में बाधक बनता है कि बच्चा अपने-आप को बनाता है, कि उसके भीतर ही एक शिक्षक बैठा हुआ है और यह आंतरिक शिक्षक भी शिक्षण के एक कार्यक्रम और तकनीक के अनुसार चलता है। और हम वयस्क इस अज्ञात शिक्षक को मान्यता देकर हम उसके सहायक और विश्वासपात्र सेवक बनने का विशेषाधिकार और उसका सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं।**

अन्य कई पूर्वग्रह या भ्रांतियां तो इसका तर्कसंगत परिणाम ही हैं। यह कहा जाता है कि बच्चे का दिमाग खाली होता है वह भी बिना किसी निर्देशक के और उसके अपने कोई नियम नहीं होते हैं। अतएव ऐसा माना जाता है कि वयस्कों के ऊपर उसके दिमाग को भरने, निर्देशित करने और आज्ञा देने की बड़ी और पूरी जिम्मेदारी आ जाती है। यह भी विश्वास किया जाता है कि बच्चे में प्राकृतिक रूप से ही कुछ कमियां होती हैं व गिरावट आती रहती है व उसमें सुस्ती भी। प्रकृति से ही वह हवा में पड़े एक पंख की तरह इधर-उधर उड़ता रहता है। अतएव वयस्क को उसे हर समय सक्रिय करने, प्रोत्साहित करने, सुधारने और निर्देशित करना होता है।

उसी तरह यह भी मान लिया जाता है कि शारीरिक दृष्टि से भी बच्चा अपनी गतिविधियों को नियंत्रित नहीं कर सकता और अपनी देख-भाल स्वयं नहीं कर सकता। इसीलिए वयस्कों को बड़ी जल्दी रहती है कि वे उसका हर काम करें। उन्हें यह सोचने का अवकाश ही नहीं है कि बच्चा अकेला ही अपना काम स्वयं अच्छी तरह कर सकता है। बच्चे को एक बड़ा बोझ समझा जाता है और बड़ी जिम्मेदारी भी, क्योंकि उसकी निरंतर देख-भाल की आवश्यकता रहती है। वयस्क का यह दृष्टिकोण रहता है कि उसे बच्चे को एक पूर्ण मनुष्य बनाना है और समझ देनी है। यही क्यों, उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी प्रवृत्ति वाला बनाना है, उसे मानवीय व्यक्तित्व का चरित्र देना है। उसे (वयस्क को) यह सब काम करना है क्योंकि उसने (बच्चे ने) उसके घर में प्रवेश पाया है।

फिर इस चिंता और जिम्मेदारी की समझ के साथ उसके साथी के रूप में अहंकार का जन्म हो जाता है। इस दृष्टि से देखे जाने के कारण बच्चे से आशा की जाती है कि वह अपने निर्माता तथा रक्षक के प्रति असीम सम्मान और कृतज्ञता दिखाये। इसके विपरीत यदि वह विद्रोह करता है तो उसे सुधारा जाना चाहिए और उसे आज्ञा में लाया जाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उसमें हिंसा का सहारा लेने की छूट है। उसे पूर्ण बनाने के लिए बच्चे को पूरी तरह उदासीन रहना चाहिए। साथ में उसे कठोर रूप से आज्ञाकारी बने रहना होता है। वह अपने माता-पिता पर पूरी तरह से निर्भर करता है और वह इस तरह आर्थिक भार भी बना रहता है। इस तरह उसकी निर्भरता एकदम पूरी रहती है क्योंकि वह 'बच्चा' है। उस समय भी वह बच्चा ही माना जाता है, भले ही दाढ़ी-मूंछ क्यों न आ गई हो और वह विश्वविद्यालय में पढ़ने क्यों न जाता हो। फिर भी वह अपने पिता और शिक्षकों पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार जिस समय वह बच्चा था। उसे वहीं जाना होता है जहां उसके पिता की इच्छा होती है। उसे शिक्षकों तथा प्रोफेसरों के अनुसार ही अध्ययन करना होता है। वह तब भी समाज से बाहर ही रहता है, भले ही तब उसने डिग्री क्यों न ले ली हो और वह 26 वर्ष का क्यों न हो गया हो।

वह अपने पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकता है। उसे उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जो उसके लिए निश्चित की गई है। यह निश्चित अवधि ऐसी है जिसे उसकी आवश्यकताओं तथा भावनाओं को ध्यान में रखकर निश्चित नहीं किया जाता है। यह एक प्रकार का सामाजिक कानून है जो वयस्कों ने लागू किया है और सब पर समान रूप से लागू होता है।

उसे जीवनपर्यन्त समाज की आज्ञा माननी पड़ती है। जब उसे समाज मरो या मारो के लिए तैयार रहने को कहता है तब यदि वह ऐसा नहीं करता या सैनिक

सेवा देने से मना करता है तो वह समाज से अलग कर दिया जाता है। तब वह दोषियों की श्रेणी में शामिल कर लिया जाता है।

यह सब हमारे विश्व में होता है, ठीक उसी तरह, जिस तरह सोते का शांत जल चरागाह के बीच में बहता रहता है। यह तो पुरुष को अपने जीवन के लिए दी गई तैयारी का रूप है और जहां तक स्त्री का प्रश्न है, वह तो और अधिक निर्भर रहती है और वह अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य होती है।

जीवन को इस तरह जीने के यही नियम हैं, जो समाज का आधार बनते हैं। जो इनके प्रति समर्पित नहीं होता उसे अच्छा कहा नहीं जा सकता या नहीं कहा जायेगा।

इस तरह जन्म के बाद और जब तक वयस्क के द्वारा निर्धारित सभी नियमों का पालन नहीं होता तब तक बच्चा और युवा, दोनों को ही समाज में मनुष्य नहीं समझा जाता या उनको यह दर्जा नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, युवा विद्यार्थियों को कहा जाता है कि वे अपने अध्ययन पर ध्यान दें। अपने को राजनीति से नहीं जोड़ें और उन विचारों पर भी ध्यान न दें जो उनके लिए निर्धारित नहीं हैं, यानी उन पर अभी तक थोपे नहीं गये हैं। उनको नागरिक अधिकार अभी प्राप्त नहीं हैं। यह भी कहा जाता है।

सामाजिक संस्कार तभी उनके लिए खुलता है जब तक इस प्रकार की अधिनायकवादी तैयारी पूरी नहीं हो जाती।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सभ्यता के इतिहास के दौरान कुछ क्रमिक विकास हुआ है। रोमन कानून में पिता को अपने परिवार का स्वामी माना जाता था। उसे यह भी अधिकार प्राप्त था कि वह अपने बच्चों को मार सकता है क्योंकि उसी ने प्रकृति के नियम के अनुसार उन्हें पैदा किया है। उन दिनों निर्बल या विकलांग बच्चों को खड़ी (ऊंची) चट्टान से फेंक कर नष्ट कर दिया जाता था। इसे जाति को शुद्ध रखने की प्रक्रिया कहा जाता था। ईसाई धर्म में दूसरी तरफ अपने बच्चे और विकलांग बच्चे को जीवन के सम्मान वाले कानून की दृष्टि से एक ही स्तर पर माना जाता था। यही सब-कुछ है। बच्चे को अब मारा नहीं जा सकता।

धीरे-धीरे विज्ञान ने स्वास्थ्य शास्त्र के रूप में बच्चे के जीवन को रोग तथा प्रकट रूप में निर्दयता के विरुद्ध संरक्षण देने में सफलता प्राप्त की। उसने इस बात का भी बड़ा ध्यान रखा कि इस मामले में सामाजिक स्थितियों को सुधारने के बारे में कोई निर्देश नहीं दिये जायं ताकि सभी बच्चों को, न कि रोगी बच्चों को, संरक्षण मिले।

बच्चे का व्यक्तित्व व्यवस्था तथा न्याय के अंतर्गत आने वाले पूर्वग्रहों के नीचे दबकर रह गया है। यद्यपि वयस्क ने अधिकारों के रक्षण के लिए बड़ा भारी

आंदोलन किया है, पर बच्चों के अधिकारों की उसने अनदेखी ही की। वह उसके प्रति जागरूक भी नहीं है, यानी उसकी उसे जानकारी भी नहीं है। इस ढर्रे पर जीवन वर्तमान शताब्दी तक इसी तरह क्रमिक विकास पर चला और उसे जटिल बनाने का क्रम अब भी जारी है।

इन अवधारणाओं की जटिलताओं से भी विशेष पूर्वग्रह उत्पन्न होते हैं। वे इस आड़ में थोपे जाते हैं कि उनका उद्देश्य बाल-जीवन का सम्मान करना तथा उसे संरक्षण देना है, जो प्रशंसनीय कार्य है।

छोटे बच्चे को उदाहरण के लिए किसी तरह का काम नहीं करने दिया जाता है। उसे बौद्धिकता की दृष्टि से निष्क्रियता का जीवन जीने के लिए छोड़ दिया जाता है। उसे सब-कुछ अब तक स्थापित तरीके के अनुसार करना पड़ता है। यही उसका खेल बनता है।

यदि ऐसे में एक दिन यह पता लगता है कि बच्चा बड़ा काम करने वाला है और अपने काम को स्वयं कर सकता है, यहां तक कि एकाग्रचित्त होकर ऐसा कर सकता है, जो स्वयं ही सीख भी सकता है और अपने को पढ़ा सकता है और जो स्वयं को अनुशासित रख सकता है, तो इसे परिकथा के समान मान लिया जाता है। यह कोई अचरज की चीज नहीं समझी जाती है। इसे तो एकदम मूर्खतापूर्ण काम तक मान लिया जाता है।

इसकी वास्तविकता को ध्यान में रखा ही नहीं जाता है अतएव किसी निर्णय पर भी नहीं पहुंचा जाता है। इस विरोधाभास में वयस्क के हिस्से में रही गलती छिपी हुई भी रह सकती है। इसे सामान्य रूप से असंभव समझ लिया जाता है। ऐसा हो नहीं सकता या यह कहा जाता है कि यह कोई गंभीर बात नहीं है।

सबसे बड़ी कठिनाई बच्चे को स्वतंत्रता देने के प्रयास के रास्ते में आती है और उसकी शक्तियों को प्रकाश में लाने में शिक्षा के स्वरूप को सामने लाने में नहीं आती है, जो इन उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। यह कठिनाई उन पूर्वग्रहों को दूर करने में आती है, जो वयस्क ने इस मामले में बना रखे हैं। इसीलिए मैंने कहा कि हमें केवल बच्चे से संबंधित पूर्वग्रहों की जांच करके व उनका पता लगा कर उनके विरुद्ध लड़ना चाहिए। हमें दूसरे पूर्वग्रहों को तो छूना भी नहीं चाहिए जो उसने अपने जीवन के बारे में बना रखे हों।

पूर्वग्रहों के विरुद्ध यह लड़ाई तो एक बच्चे के लिए सामाजिक प्रश्न है जिसे उसकी शिक्षा के पुनर्विकिरण से जोड़ा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में यह अत्यावश्यक है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रचनात्मक और पूरी तरह से परिभाषित मार्ग सामने आना चाहिए। यदि बच्चे से संबंधित पूर्वग्रह की तरफ सीधे

रूप में जाते हैं तो वयस्क में सुधार धीरे-धीरे संभव है, क्योंकि उससे वयस्कों में रही बाधाओं को हटाया जा सकता है। वयस्क में इस तरह का सुधार पूरे समाज के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण का एक हिस्सा बन सकता है जो अपने को क्रमिक रूप से आगे बढ़ाता जा रहा है और इस तरह बाधाओं की एक परत पर दूसरी परत जमती जा रही है। इससे भी अधिक यह कहा जा सकता है कि इस जागरण के बिना अन्य सभी सामाजिक प्रश्न अस्पष्ट बन कर रह जाते हैं और इनके द्वारा खड़ी की गई समस्याओं को मिटाया भी नहीं जा सकेगा। केवल थोड़े-से वयस्कों में यह चेतना मंद नहीं पड़ी है, अपितु सभी वयस्कों का यही हाल है क्योंकि उनका बच्चों से वास्ता पड़ता है। और वे सभी अचेतन तरीके का-सा व्यवहार करते हैं। इस बिन्दु पर वे अपनी विचारशक्ति को काम में नहीं लेते और न अपनी बुद्धि को, जो उन्हें अन्य क्षेत्रों में प्रगति की ओर ले जाती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि उनमें एक काला स्थान है जैसा कि आंख में होता है। बच्चे जैसे अनजान प्राणी को, जो प्रकारान्तर से मानव-जीव है, कभी-कभी वैवाहिक घटनाक्रम का हिस्सा मान लिया जाता है—एक दुर्घटना जैसा, जो बलिदानों और कर्तव्यों का मार्ग खोल देता है, फिर भी जो अपने लिए न तो भय पैदा करता है और न प्रशंसा ही।

मुझे एक मनोवैज्ञानिक जटिलता का वर्णन करने दीजिए। कल्पना कीजिए कि प्रकृति में बच्चा एक दैविक चमत्कार जैसा लगता हो, जैसा कि मनुष्य को बालक यीशु के रूप में अनुभव देता है और जो कलाकारों व कवियों को प्रेरित करता है और जो मानव-मुक्ति की आशा-किरण है और जिस महान् आकृति के चरणों में पूर्व एवं पश्चिम के राजा श्रद्धा से अपनी भेंट चढ़ाते हैं। यह बालक यीशु यद्यपि धार्मिक भावना से पूजा जाता है, सचमुच में बच्चा है—एक नवजात शिशु की तरह, जो चेतनारहित है। प्रायः सभी माता-पिता अपने अपने बच्चों के जन्म के समय ऐसी ही उच्च भावनाओं का अनुभव करते हैं जो उनके प्रेम के कारण आदर्श रूप ले लेती हैं। बाद में वही बच्चा जब बड़ा होता है तो उत्पाती समझ लिया जाता है। प्रायः तब पश्चात्ताप की भावना से उससे अपनी सुरक्षा करने लगते हैं। वे तब प्रसन्न रहते हैं जब वह सोता रहता है और वे इस बात की कोशिश करते हैं कि वह अधिक समय तक सोता रहे, यानी तब तक उसे सुलाते रहते हैं जब तक ऐसा करना संभव होता है। जिनके लिए संभव है, वे अपने बच्चे को धाय की देख-रेख में छोड़ देते हैं और साहस बटोर कर उसे यह भी निर्देश दे देते हैं कि जहां तक संभव हो, वह उसे उनसे दूर ही रखे। यदि वह अनजान और न समझने लायक प्राणी भीतर की चेतना के अनुसार चल कर आज्ञा नहीं मानता है तो उसे दंड दिया जाता है, उससे लड़ा जाता है और चूंकि वह बौद्धिक व कमजोर शारीरिक दोनों दृष्टि होती है और अपनी रक्षा नहीं कर सकता अतः

उसे सब-कुछ सहन करना पड़ता है। इधर वयस्क की आत्मा में छिपा एक तरह का 'संघर्ष' चलता रहता है क्योंकि उसे भी तो बच्चे से प्यार रहता है। पहले तो यह संघर्ष पीड़ा देता है और पश्चात्ताप की भावना जगाता है। बाद में मानसिक तंत्र का खेल शुरू हो जाता है, तब मनुष्य की चेतना और अर्द्धचेतना के बीच का यह अन्तर्द्वन्द्व फिर अनुकूलता में बदल जाता है जैसा कहेंगे। यह तो समस्या से भागने की बात है। अर्द्धचेतना फिर हावी होने लगती है, यानी वह सुझाव देती है, 'बच्चे के विरुद्ध अपना बचाव करने के लिए जो तुम कर रहे हो वह ठीक नहीं है। यह तो तुम्हारा कर्तव्य है जिसका तुम्हें पालन करना चाहिए। यह तो आवश्यक अच्छाई है। तुम्हें तो और बहादुरी से काम लेना चाहिए क्योंकि तुम तो 'बच्चे' को 'शिक्षा' दे रहे हो। 'तुम तो उसमें अच्छाई का निर्माण करने का प्रयास कर रहे हो।' जब यह 'संतोष' प्राप्त कर लिया जाता है तो प्रशंसा और प्यार पूरी तरह से दफना दिये जाते हैं।

यह सब में देखा जा सकता है क्योंकि यह अवधारणा मनुष्य की प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। वह एक तरह से रक्षा का अर्द्धचेतना वाला संगठन है जो विश्व के सभी माता-पिताओं में पाया जाता है। सभी एक-दूसरे की तरफ झुकते हैं। पूरा समाज ही मिल कर एक सामूहिक अर्द्धचेतना वाला आकार ले लेता है जिसमें सभी एकमत से बच्चे को हटाने और दबाने में लग जाते हैं। वे सभी उसकी भलाई के लिए काम करते हैं। वे सभी उसके (बच्चे के) प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते होते हैं, यही नहीं वे त्याग करते हैं। इस तरह से पहले रहे हुए पश्चात्ताप का ही बलिदान कर दिया जाता है। इस संघर्ष में इसे निश्चित रूप से दफना दिया जाता है और ऐसा वयस्क समाज की एकजुटता के द्वारा होता है। इस तरह जो स्थापित होता है वह विचारों की शक्ति बनकर संपूर्ण सत्य का आकार ले लेता है जिस पर सब सहमत होते हैं। भावी माता-पिता भी अपनी बारी आने पर इस परिपाटी के समर्थक बन जाते हैं और अपने कर्तव्यपालन और बलिदान देने को तैयार हो जाते हैं जो उन्हें अपने भावी बच्चों के कल्याण के लिए देना होगा।

ये लोग, जो पहले इन विचारों के शिकार होते हैं, बाद में अपनी चेतना को इसे अपनाने के लिए तैयार करते हैं और इस तरह बच्चा अर्द्धचेतना की स्थिति में दब कर रह जाता है। इस तरह सभी लोग इस विचार के शिकार होते हैं। इस मामले में भी सिर्फ वे ही रह जाते हैं जो इस विचार का परिणाम जानते हैं। यह स्थितियां पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं—स्थायी होती जाती हैं।

इस तरह युगों से चली आ रही परिपाटी में बच्चा दब जाता है जैसा कि वह है, वह अपनी बड़ी प्रवृत्ति के अनुरूप कुछ भी प्रकट करने की स्थिति में नहीं होता है।

हमने एक तरह का फार्मूला दिया है जो इस विचार का संकेत देता है। जिसे अच्छा समझा जाता है वह वास्तव में छिपे रूप में बुरा होता है। इस बुराई ने अपने को संगठित कर लिया है और गंभीर संघर्ष का अर्द्धचेतना वाला समाधान ढूंढ़ लिया है। कोई भी बुरा नहीं चाहता है और सब की अभिलाषा अच्छे की है, लेकिन यह अच्छा ही बुरा है। हरेक इससे संक्रमित है जो नैतिकता वाले समरस पर्यावरण से विचार आया है। ऐसे में समाज के भीतर बुराई का एक संगठन बन गया है (माले) जिसने अच्छाई का आभास धारण कर लिया है (बेने) और जो पूरी मानवता पर इन्हीं के द्वारा थोप दी जाती है। जब हम इन विशेष शब्दों के प्रारंभिक अक्षरों को लेते हैं तो एक नया शब्द बनता है OMBIUS.

वह OMBIUS

यह सामाजिक शब्द ही बच्चे पर अधिकार जमा लेता है। सब उसी के सामने झुक जाते हैं और उत्कृष्ट बच्चे को शिशु यीशु का भाई समझने का प्रयास ही नहीं करते। यह अस्पष्ट विचार बच्चे के जीवन को बुरी तरह प्रभावित करता है जबकि उसमें रहा आदर्श आकार केवल धर्म की वेदी पर संकेत-भर रह जाता है।

जब वयस्क निष्ठापूर्वक इस निर्णय पर पहुंचता है कि सब भगवान् के बच्चे हैं और यीशु उन सब में निवास करता है तो वह अनुकरण के लिए आदर्श रूप बन जाता है और उससे भी अधिक उसके साथ एकाकार होने के लिए तो यही कहना पड़ता है कि अब मैं अपने रूप में नहीं, अपितु यह सोचकर कि यीशु मेरे में विद्यमान है, जी रहा हूं। फिर भी वे बच्चे को इसमें शामिल नहीं करते। उसको अलग ही समझते हैं। बालक यीशु उस गरीब नवजात शिशु से अलग ही रहता है और उसे इन्हीं विचारों से दबा दिया जाता है। उसमें लोग केवल अपने मूल पाप को देखते हैं जिससे वे लड़ना चाहते हैं।

यह छोटा-सा उदाहरण, जो मानव-प्रकृति के मनोवैज्ञानिक रहस्यों पर आधारित है, आदिकालीन वास्तविकता को बताता है जिसमें बच्चे का पूरा और बढ़ता दमन होता है। वयस्कों द्वारा गठित पूर्वग्रह, जो सारे समाज में व्याप्त हैं, बच्चे पर बोझ बनते हैं, यद्यपि वह परिवार में अकेला पड़ जाता है।

क्रमिक विकास और मानव के अधिकारों हेतु निरंतर होने वाले आंदोलनों के बावजूद बच्चों को भुला दिया जाता है।

बच्चों के साथ किये गये अन्याय का इतिहास अभी तक तो अधिकृत रूप से नहीं लिखा गया है। अतएव यह इतिहास के एक हिस्से के रूप में किसी भी विद्यालय में, चाहे वह किसी श्रेणी का हो, नहीं पढ़ाया जाता है। यहां तक कि जो विद्यार्थी इस विषय में विशेष डिग्री प्राप्त करते हैं, उन्होंने कभी इस का

उल्लेख होते भी नहीं जाना है। इतिहास केवल वयस्कों तक ही सीमित रहता आया है क्योंकि केवल वही हमारी चेतना में विद्यमान जो रहता है। इसी प्रकार जो विधि का अध्ययन विशेष रूप से करते हैं वे पहले के तथा वर्तमान कानूनों में से कइयों को सीखते हैं, लेकिन उन्हें कभी भी इस बात का पता नहीं लगता कि बाल-अधिकारों को लेकर कोई कानून आज तक जारी हुआ है। सभ्यता ने उस प्रश्न की अब तक अनदेखी की है जो अभी तक 'सामाजिक समस्या' नहीं बना है।

पर वही बच्चा जब वयस्क के किसी काम का हो सकता है तो उसका ध्यान रखा जाता है। तब भी वह चेतना का काला स्थान ही बना रहता है और मानव-प्राणी के रूप में उसका भाग्य आंखों से ओझल ही रहता है।

अब हम एकदम स्पष्ट उदाहरण लेते हैं। फ्रांस की क्रांति के समय प्रथम बार मानव-अधिकारों की घोषणा हुई। उनमें सभी मनुष्यों को पढ़ना और लिखना सिखाये जाने का अधिकार भी शामिल था। जो अभी तक एक विशेषाधिकार जैसा था और जो साधन-संपन्न वर्गों को प्राप्त था, अब वह सबका विश्वव्यापी अधिकार बन गया। तब यह तर्कसंगत बना होता यदि सब वयस्कों ने इस अवसर का लाभ उठाया होता। हालांकि उसके लिए प्रयास करने की आवश्यकता थी, क्योंकि यह ऐसा अधिकार था जिसने न केवल विशेषाधिकारों को समाप्त किया, अपितु इसके साथ व्यक्ति के विकास या सुधार का प्रयास करने की बात भी जुड़ी हुई थी। इसी पर वह बोझ केवल बच्चों पर डाला गया। उस पर इस विलय के लिए पूरा प्रयास करने का बोझ डाला गया।

इस तरह, हम यहां देखते हैं कि इतिहास में पहली बार बच्चों को—लड़के व लड़कियों को लामबंद किया गया। सबको समान रूप से विद्यालयों में सेवा के लिए बुलाया गया, जैसा कि युद्ध के समय पुरुषों को लामबंद करके सैनिक सेवा के लिए बुलाया जाता है।

हम सब लोग उस दयनीय कहानी को जानते हैं। बच्चे को आजीवन दंड देकर प्रताड़ित किया गया क्योंकि वह पूरे बाल-जीवन के लिए बंदीगृह में भेज दिया गया। उसे लकड़ी की बैंच पर चहारदीवारी के भीतर बंद कर दिया गया। यह सब एक निरंकुश व्यक्ति की अधीनता में हुआ, जो यहां तक चाहता था कि जैसा वह चाहे वैसा ही सब सोचें, वही सीखें जो वह चाहता है और जो कहे वही करें। बच्चे के नाजुक हाथों को लिखने के लिए कहा गया। उसके मस्तिष्क को, जो कल्पना-शक्ति से भरपूर है, वर्णमाला के शुष्क आकार पर केन्द्रित करने को कहा गया। यह वर्णमाला उस तक उन लाभों को नहीं पहुंचाती जो उसके पास हैं

और जो हमको मिलने चाहिए। ये लाभ भी केवल वयस्क द्वारा खोजे जाते हैं। यह बलिदान का वैसा उल्लेखित इतिहास है।

बच्चों को पेंसिल या होल्डरों में अंगुलियों को अटका कर प्रताड़ित किया जाता था। वे डंडों से पीटे जाते थे और क्रूर ढंग के शिकार होते थे। इन नन्हे कैदियों की पीड़ाओं को तो सभी जानते हैं। यहां तक कि उनकी रीढ़ की हड्डी को मोड़ा जाता था और विकृत किया जाता था, उन्हें एक लकड़ी की बेंच पर घंटों तक बैठा कर। ऐसा प्रतिदिन होता था और वर्षों तक चलता था और वह भी उस समय, जब यह उनके विकास का नाजुक समय होता था।

उन्हें झुंड में रखा जाता था जिससे रोगों के प्रसार का खतरा बना रहता था, सर्दी का शिकार होने का। इस तरह बच्चों को इन बंदी शिविरों में रहना पड़ता था। यह सब हमारी शताब्दी तक चलता रहा। इस स्थिति से जो भी लाभ मिला, वह वयस्क का अधिकार माना गया, न कि बच्चे का अधिकार समझा गया। इतना ही नहीं, किसी ने भी इसके लिए उसके (बच्चे के) प्रति कृतज्ञता भी प्रकट नहीं की और न किसी ने उसकी पीड़ा को दूर करने की सोची। वे हमेशा अपने माता-पिता के साथ ही रहे जिनमें माता-पिता वाली प्राकृतिक भावना अपने बच्चों के जन्म के समय ही दिखाई दी। उनमें हमेशा बच्चों को संरक्षण देने की प्रवृत्ति दिखाई दी जो पशुओं को भी सामान्यतया प्राप्त होती है।

इसको कैसे समझाया जाय सिवाय यही मान कर कि यह हमारी चेतना की रहस्यमय प्रकृति है। इस उदाहरण के अलावा इसे कैसे समझाया जा सकता है जो बच्चों से संबंधित पूर्वग्रहों के रूप में है।

अब हमारी शताब्दी में इन पीड़ाओं को दूर करने का गंभीर प्रयास हो रहा है। शिक्षा में सुधार का प्रयास भी किया जा रहा है। अब अधिकाधिक स्वस्थ और सुंदर विद्यालय बनाये जा रहे हैं। यह सब भी उस बच्चे के स्वरूप के चारों ओर खड़े किये जा रहे हैं जिसे गलत समझा गया है और अब भी वह उन विकृत आंखों से ही देखा जाता है। ❑

तीन

नीहारिका

मनुष्य और पशु

जब हम आनुवंशिकता की दृष्टि से नवजात मानव-शिशु का तर्कसंगत ढंग से विवेचन करते हैं तभी हम स्तनपायी जीवों के नवजात बच्चों और उसके बीच के अंतर को समझ सकते हैं। ये स्तनपायी प्राणी भी, जैसा कि सभी पशु साधारणतया अपना व्यवहार वंश-परंपरा से प्राप्त करते है, ऐसा ही विशेष व्यवहार करते हैं। यह उसी तरह निश्चित है जैसे कि आकृति विज्ञान के अनुसार उनके शरीर के विशिष्ट लक्षण या अंग। उनका शारीरिक रूप संक्षेप में उनके द्वारा जीवन में किये जाने वाले कार्यों के अनुरूप होता है। ये क्रियाकलाप सभी वर्गों के प्राणियों के लिए निश्चित होते हैं, यानी प्रत्येक वर्ग के अलग-अलग कार्य। उनकी आदत, चलने-फिरने का ढंग, चाहे लंबी छलांग लगाना हो, चाहे दौड़ना या पेड़ पर चढ़ना, जन्म के बाद ही निश्चित होता है। अतः उनका अपने को पर्यावरण के अनुकूल ढालने का उद्देश्य एक तरह से अपने क्रियाकलापों को काम में लेना होता है। इस तरह अपनी आनुवंशिक विशेषताओं को बनाये रखने के साथ-साथ प्रकृति के संपूर्ण क्रियाकलापों में अपना योगदान देकर उसे आगे बढ़ना होता है। यही उनका ब्रह्मांड संबंधी उद्देश्य भी होता है। जो कूदते हैं, दौड़ते हैं, (पेड़ पर) चढ़ते हैं या भूमि को खोदते हैं, उनके पैर इस तरह बने हुए होते हैं ताकि वे अपने कार्य को अच्छी तरह कर सकें या उनकी क्रिया के साथ वे मेल खाते हैं। उनके द्वारा निष्ठुरता या लालसा के वशीभूत मुर्दा प्राणियों से पेट भरना भी पृथ्वीतल पर कूड़ा-करकट को समाप्त करने की प्राकृतिक व्यवस्था का अंग ही है। संक्षेप में, जिस वेग या कठोरता का समावेश शरीर-निर्माण में किया जाता है ताकि हर प्राणी-वर्ग के लिए निर्धारित 'प्राकृतिक उद्देश्य' को पूरा किया जा सके। जिन प्राणी-वर्ग को इनसे भिन्न तरीके से सीमित शक्तियां प्रदान की गई हैं वे तो बहुत कम हैं। उनको मनुष्य ने घरेलू बना दिया है। पशुओं का बड़ा भाग अपनी आनुवंशिक विशेषताओं को पूरी कठोरता के साथ बनाये रखता है और उन्हें पालतू नहीं बनाया जा सकता।

इसके विपरीत, मनुष्य के पास उन्हें अपने अनुकूल बनाने के प्रायः असीमित अधिकार हैं। वह सभी भौगोलिक क्षेत्रों में रहने की अपनी क्षमता रखता है। यही

क्यों, वह अपने कार्य तथा आदतों को बहुत तरीकों और रूपों में बदल सकता है। बाहरी दुनिया में वास्तव में मनुष्य ही ऐसा एकमात्र प्राणी है जिसमें अपनी गतिविधियों का क्रमिक विकास करने की अंतहीन क्षमता है। इसी से सभ्यता के विकास का प्रवाह चलता रहता है। केवल मानव रूपी प्राणी ही ऐसा है जिसका व्यवहार प्रकृति द्वारा निश्चित नहीं किया गया है जैसा कि अन्य प्राणियों के मामले में होता है। जैसा कि हाल में जीव विज्ञानी कह चुके हैं, यह एक ऐसा प्राणी-वर्ग है जो निरंतर शैशव अवस्था में रहता है क्योंकि इसका विकास निरंतर चलता रहता है।

अतएव यह पहला अंतर है क्योंकि मनुष्य ने कोई निश्चित व्यवहार उत्तराधिकार में नहीं पाया।

दूसरा स्पष्ट अंतर है कि कोई भी स्तनपायी प्राणी का नवजात शिशु जन्म के समय निष्क्रिय नहीं होता ताकि वह अपने वर्ग के वयस्कों की विशेषताओं का अनुसरण करने में अक्षम नहीं होता, जैसा कि नवजात मानव-शिशु होता है। अनेक पशुओं के छोटे बच्चे तुरंत अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं, जैसे गाय का बछड़ा।

जब वे दूध पीने की अवस्था में होते हैं तब भी वे अपनी माताओं के पीछे भागते रहते हैं।

यहां तक कि वे बंदर भी, जो मनुष्य के सबसे अधिक निकट समझे जाते हैं, जन्म के समय ही सजीव और बुद्धिमान् होते हैं। वे अपनी माताओं से अपने बल पर स्वयं ही चिपक जाते हैं उत्साहपूर्वक और उन्हें हाथों में ले जाने की आवश्यकता नही पड़ती। बंदरिया जब पेड़ पर चढ़ रही होती है तो उसके बच्चे उससे चिपके रहते हैं और वे अपनी माता को अपने छोटे हाथों से पकड़े रहते हैं, इतना ही नहीं, ये छोटे बंदर प्रायः भागने का प्रयास करते रहते हैं और माता को उन्हें पकड़ने के लिए पूरा जोर लगाना पड़ता है ताकि वह उन्हें अपने साथ रख सके।

इसके विपरीत मानव-शिशु काफी समय तक निष्क्रिय-सा बना रहता है। वह बोलता नहीं है जबकि अन्य प्राणी-वर्ग के नवजात तुरंत ही चहकने या भौंकने लगते हैं या फिर उस तरह की आवाज करने लगते हैं जो उस वर्ग की विशेषता होती है। विश्व-भर के कुत्ते, चाहे उनकी नस्ल कुछ भी क्यों न हो, भौंकते हैं। सभी बिल्लियां उसी तरह म्याऊं करती हैं जिस तरह सभी चिड़ियां अपने विशिष्ट स्वर में चिल्लाती हैं और गाती हैं जो उस प्राणी-वर्ग की अभिव्यक्ति का एक तरीका होता है या यूं कहिये उनकी विशेषता होती है।

बच्चे की लंबे समय तक निष्क्रियता और अक्षमता सही अर्थ में केवल मानव-वर्ग तक ही सीमित है। जिस आयु में बैल पुनः उत्पत्ति करने की स्थिति में

आ जाता है उसमें मानव-शिशु केवल बच्चा ही बना रहता है और वह परिपक्व नहीं हो पाता, जबकि बैल का शरीर मनुष्य से बड़ा होता है और उसके शरीर के अंग एक ही तरह के होते हैं।

जो केवल आकृति विज्ञान के क्रमिक विकास का अध्ययन करते हैं और वह भी आकृति व उसके विभिन्न अंगों का, वे यह निष्कर्ष निकालते हैं और मनुष्य को सीधे पशु का वंशज बताते हैं, हालांकि उन्होंने दोनों के बीच भिन्नताओं की तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। मनुष्य के बचपन के लंबे समय वाली वे अनोखी विशेषताएं इस मामले में सहायक बनती हैं। इसलिए यह शून्य बनी रहती है जिसके संबंध में क्रमिक विकास के सिद्धांत ने अभी तक विचार ही नहीं किया है।

वास्तव में तभी इस तर्क के आधार पर कि मनुष्य शारीरिक रूप में पूंछहीन बंदर है, सहमत होना संभव हो सकता है और यह सब क्रमिक विकास के कारण संभव हुआ है और वह भी पर्यावरण के अनुकूल अपने को ढालने के लंबे प्रयासों के कारण ही, क्योंकि इस संबंध में प्रमाण मौजूद हैं कि मनुष्य और बंदर के शरीर में समानताएं हैं। प्राचीन मनुष्य का चेहरा और खोपड़ी उत्कृष्ट बंदर से बहुत-कुछ मिलते हैं। दोनों के हाथ-पैर और सामान्य रूप से शारीरिक ढांचा आश्चर्यजनक रूप से समान हैं। जो यह सोचते हैं कि प्राचीन मनुष्य को भी बंदर की तरह पेड़ों पर चढ़ना पड़ता था, वे केवल दोनों के सामान्य स्थलों पर ही जोर देते हैं। इस बात को चलचित्र 'टारजन' में अद्भुत ढंग से विस्तारपूर्वक दर्शाया गया है। फिर भी एक बात को अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। हम ऐसे प्राचीन मनुष्य की, जो आकृति के हिसाब से निम्न स्तर लिये हुए रहा हो, कल्पना कर सकते हैं जो पेड़ पर चढ़ता रहा होगा, लेकिन हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि ऐसे मनुष्य के नवजात शिशु, जो बोलते थे या जो अपने बल पर अपनी माता से चिपक कर, अपने पैरों पर खड़े होते थे और तुरंत ही दौड़ना शुरू कर देते थे। इसके लिए कोई कारण बताना कठिन है या संभव नहीं है कि मनुष्य, जिसने उच्च स्तर के जीवन का विकास पाया, उसके बच्चों को निष्क्रिय, गूंगों और बुद्धिमत्तारहित देखा गया और वर्षों तक वे किसी तरह की उपलब्धि प्राप्त करने में सक्षम नहीं रहे जबकि पहले के क्रमिक विकास के विभिन्न चरणों में वे ऐसा कर सकते थे। इस तरह मानव जैसे प्राणी की विशेषता, जो अन्य प्राणी-वर्ग से भिन्न है, उसके नवजात शिशु में निहित है।

यह कोई नई बात नहीं है कि हम इस तथ्य को आज भी समझा नहीं सकते। पर यह तथ्य अपनी जगह पर है और इससे यह तर्क देना सहज हो जाता है कि मनुष्य का नवजात शिशु अन्य स्तनपायी प्राणियों से निश्चित रूप से निम्न स्तर का है। यह तो स्पष्ट है कि मनुष्य का नवजात शिशु बहुत ही घटिया स्तर का है

स्तनपायी प्राणियों के मामले में। इससे साफ है कि उसका कार्य एक विशेष प्रकार का है जो अन्यों का नहीं है।

और यह कार्य उसे उत्तराधिकार में नहीं मिलता है जैसा कि अन्यों के मामले में होता है। अतएव यह नये प्रकार का है जो क्रमिक विकास के समय सामने आता है।

इस प्रकृति को वयस्क मनुष्य के व्यवहार को देखने से केवल समझा जा सकता लेकिन यह बच्चे को निरखते हुए भलीभांति देखा जा सकता है।

इस तरह क्रमिक विकास की प्रक्रिया में एक नयी चीज़ सामने आई, जिससे मनुष्य को समझा जा सके। इसी तरह के नये परिवर्तन पशु-जगत् में भी हुए जब रेंगने वाले पक्षी और स्तनपायी प्राणी अस्तित्व में आये, जैसे कि गर्म खून और प्राणी-वर्ग के रक्षण के लिए सहज रूप से देख-भाल हुई। पक्षियों और रेंगने वाले जीवों के बीच जो सही अंतर है वह उनके चोंच में दांतों को लेकर नहीं है और न वह लंबी पूंछ है जो रीढ़ की कई हड्डियों से मिल कर बनी है अपितु माता-पिता का प्यार है जो पहले नहीं था और जो गर्म खून के साथ ही सामने आया। इस तरह यह केवल रूपान्तरण ही नहीं हुआ, अपितु क्रमिक विकास में और जुड़ाव भी हुआ।

बच्चे की कार्यप्रणाली

तो फिर बच्चे का विशेष कार्य होना चाहिए, भले ही वह वयस्क से छोटा तथा कमजोर क्यों न हो। जन्म से उसके पास वह सब-कुछ नहीं होता जो कालांतर में उसमें वृद्धि लाकर उसे वयस्क बनाने का माध्यम बनता है। वास्तव में यदि मनुष्य में कुछ निश्चित विशेषताएं होतीं जैसी कि अन्य प्राणी-वर्ग में हैं, तो फिर मनुष्य भिन्न-भिन्न स्थानों और स्वभावों के अनुकूल अपने को नहीं ढाल पाता और न अपने सामाजिक तरीकों को विकसित कर पाता। इतना ही नहीं, वह न अलग-अलग तरीकों वाले काम ही कर सकता।

इस तरह वह पशुओं से उत्तराधिकार के मामले में भिन्न है। वह स्पष्ट रूप से किसी तरह की उल्लेखनीय विशेषताएं उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं करता है। इसीलिए जन्म के बाद वह जिन विशेष प्रकार की विशेषताओं से संबंधित होता है वे उसमें निर्मित होती हैं।

उदाहरण के लिए भाषा को लेते हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य के पास आनुवंशिक रूप से ऐसी भाषा होनी चाहिए जिसमें वह अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सके। इसके लिए एक ऐसी भाषा की जरूरत होती है जिसके द्वारा वह सामाजिक सहयोग के विचारों का आदान-प्रदान कर सके। इसके लिए उसे नये सिरे से विकास करना पड़ता है जिसका संबंध उसकी बुद्धि से हो। फिर भी ऐसी कोई

विशेष भाषा नहीं है जो संप्रेषण का काम करती हो। मनुष्य ऐसी कोई भाषा नहीं बोलता है, भले ही वह बढ़ रहा हो, जैसे कि पिल्ला भौंकने लगता है। यह पिल्ला फिर चाहे संसार के किसी भाग में क्यों न हो और अन्य कुत्तों से अलग-थलग क्यों न पड़ गया हो। इधर मनुष्य-जाति के मामले में भाषा धीरे-धीरे विकसित होती है। संक्षेप में यह प्रारंभिक बचपने के उस महत्त्वपूर्ण काल में, जब वह निष्क्रियता की स्थिति में होता है। दो वर्ष या सवा दो वर्ष की आयु में बच्चा अपने आस-पास बोली जाने वाली भाषा को साफ-साफ बोलता है और उसे दुहराता भी है। वह आनुवंशिक रूप से अपने माता-पिता की भाषा को नहीं दुहराता है। वास्तव में होता यह है कि यदि बच्चा अपने माता-पिता और लोगों से दूर दूसरे देशों में पाला-पोसा जाता है जहां दूसरी भाषा बोली जाती है, तो वह जहां रहता है वहां की भाषा को ही बोलेगा। यदि कोई इटालियन बच्चा अमेरिका ले जाया जाता है तो वह अंग्रेजी ही बोलेगा और वह भी अमरीकी लहजे में और उसे इटालियन भाषा नहीं आयेगी। इस तरह बच्चा स्वयं भाषा को ग्रहण करता है और जब तक वह उसे प्राप्त नहीं कर लेता तब तक गूंगा है। इस तरह वह (मनुष्य का बच्चा) अन्य पशुओं के बच्चों से भिन्न होता है।

ऐसे जंगली बच्चे, जिनके बारे में इतिहास बताता है, वे बच्चे हैं जिन्हें जंगल में छोड़ दिया गया था। वे भयंकर जानवरों के बीच, जहां वे छोड़ दिये थे, बड़े ही अपवादस्वरूप वातावरण में भी जीवित रह गये। जब वे बारह या सोलह वर्ष की आयु में प्रथम बार पाये गये तो भी मूक थे। उनमें से कोई भी उन जानवरों की आवाज में, जिनके बीच वे रहे, चिल्ला नहीं सके यद्यपि एक तरह से उनसे कुछ बातें सीखी। Aveyron वाला प्रसिद्ध असभ्य ग्यारह वर्ष की आयु में भी मूक था, जब वह पाया गया था। उसे एक फ्रांसीसी चिकित्सक ने शिक्षित किया। उन्होंने पाया कि बच्चा तो गूंगा है और बोलने में असमर्थ ही। वास्तव में उसने फ्रेंच बोलना सीख लिया और वह उसी भाषा में पढ़ने और लिखने लगा। वह केवल देखने में ही गूंगा और बहरा लगता था। क्योंकि वह मनुष्य से दूर जो रहा था—बोलने वाले लोगों से दूर।

इस तरह भाषा स्वयं बच्चे द्वारा अपने लिए नये सिरे से विकसित की जाती है यद्यपि वह स्वाभाविक रूप से उसे अपने में विकसित करता है, पर उससे लगता यह है कि उसने आनुवंशिक रूप से ऐसा करके यह शक्ति प्राप्त की है। फिर भी यह बच्चा ही है जो अपने में यह विकास करता है, हालांकि वह वातावरण से लेकर इसे विकसित करता है। रोचक बात बच्चे में भाषा के विकास के संबंध में हाल में किया गया मनोवैज्ञानिक अध्ययन है जो प्रत्यक्ष निरीक्षण पर आधारित है। बच्चा अनजान में ही सही, भाषा को व्याकरण की दृष्टि से भी अपने में आत्मसात् करता रहता है।

यद्यपि वे (बच्चे) बहुत समय तक निष्क्रिय रहते हैं, फिर भी अचानक एकदम सवा दो वर्ष की आयु के भीतर उनमें एक तरह की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में भाषा का विस्फोट होकर वह पूरी तरह से उन्हें आ जाती है।

इससे लगता है कि जब बच्चा लंबे समय तक अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाता है तब भी भीतर उसमें भाषा का विकास होता रहता है। वास्तव में वह इस रहस्यपूर्ण अवधि में अपने मस्तिष्क में बिना जाने भाषा के शब्दों को व्याकरण सहित विस्तार दे रहा होता है। ऐसा करना अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए आवश्यक है। यह बात सभी भाषाओं के मामले में सही है जिनमें बच्चा विकास करता है। इस मामले में भाषा चाहे सरल हो, जैसी कि कई अफ्रीकी जनजातियों में बोली जाती है या फिर चाहे जर्मन या रूसी जैसी अत्यंत पेचीदा भाषाएं हों, वे बच्चों द्वारा एक ही अवधि में आत्मसात् कर ली जाती हैं। हर जगह बच्चा, चाहे वह किसी वंश या जाति का हो, दो वर्ष की आयु के आस-पास बोलना शुरू कर देता है और ऐसा ही निश्चित रूप से पहले भी होता होगा। ऐसे ही रोमन बच्चे लैटिन बोलते होंगे जिसका शब्द-रूप कम जटिल नहीं है, जिसको सीखने में आज के समय के युवकों को बड़ी परेशानी होती है। उन्हें यह भाषा माध्यमिक विद्यालयों में पढ़नी होती है। पहले भारत में छोटे बच्चों को ऐसे ही संस्कृत बोलनी होती होगी। उसे ही आज के विद्यार्थियों को सीखने में बहुत कठिनाइयां होती हैं।

दक्षिण भारत की तमिल भाषा हमारे लिए बड़ी कठिन है। ऐसी उसके कई उच्चारण और कई शब्दों पर दिये जाने वाले जोर के कारण होता है। इससे वाक्यों का अर्थ ही केवल आवाज को थोड़ा ऊंचा या कम करने से बदल जाता है। फिर भी दो वर्ष की आयु के छोटे बच्चे गांवों में और भारत के मैदानी भागों में तमिल बोलते ही हैं।

इसी तरह, जो इटालियन भाषा का अध्ययन करते हैं उनको उसकी संज्ञाओं के लिंग को याद करना बड़ा कठिन होता है। यह उनकी एक बड़ी कठिनाई होती है क्योंकि इस बारे में कोई निश्चित नियम भी नहीं है, ऐसा भी होता है कि कई संज्ञाएं एकवचन में पुरुषवाचक होती है तो कई बहुवचन में स्त्रीवाचक और इसका कई मामलों में उलटा भी होता है। ऐसे में किसी विदेशी के लिए इस तरह की गलतियों से बचना प्रायः असंभव हो जाता है। फिर भी गलियों के अनजान छोकरे कभी ऐसी गलतियां नहीं करते और विदेशियों की गलतियों पर हंसते हैं। कभी-कभी विद्वान् व्यक्ति, जिन्होंने इटालियन भाषा का गहरा अध्ययन किया होता है और सारे नियमों और स्वरों में निपुणता प्राप्त कर ली होती है फिर भी, उनके बारे में कह दिया जाता है कि उनका उच्चारण तो विदेशी लगता है और पूछा जाता है कि राष्ट्रीयता क्या है?

प्रारंभिक बचपन में भाषाओं को आत्मसात् करने से स्पष्ट है कि बाद में उनका अनुकरण करना संभव नहीं है। वे हमारी मातृभाषाएं हैं। वे दोनों की, फिर चाहे वे अज्ञानी हों या विद्वान्, संपत्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मातृभाषा अनुपम भाषा होती है जिसकी उसे प्राप्ति होती है उसके स्वरों, लयबद्ध पाठों और व्याकरण के अनुसार निर्माण के साथ। वह बताती है कि बोलने वाला यह उसी तरह से जैसे किसी व्यक्ति का चमड़ी का रंग या उसकी शारीरिक बनावट बताती है।

ये अलग-अलग भाषाएं किस तरह से बनीं? ये भाषाएं बहुत-सी पीढ़ियों से निर्मित हुईं और विस्तार पाती रहीं। इनके स्वर मनुष्य के विचारों से विस्तार पाते रहे। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि बच्चे ने जानते-बूझते इनकी तरफ ध्यान दिया और न इसलिए कि उसने उनका अध्ययन बुद्धिमानी के साथ किया। मनुष्य को आनुवंशिक रूप से बोलने की शक्ति तो प्राप्त है, पर आनुवंशिक रूप से कोई भाषा उसको प्राप्त नहीं होती है। ऐसे में तब उस तक क्या प्रेषित होता है?

इसकी तुलना नीहारिकाओं से की जा सकती है। ये वे ही नीहारिकाएं हैं जिनसे आकाशीय पिंडों की उत्पत्ति होती है। ये नीहारिकाएं प्रायः ईथर गैसों के पिंड होती हैं जो न तो ठोस होती हैं और न स्थिर ही, फिर भी वे धीरे-धीरे ठोस रूप धारण करती हैं और अपने को तारों और ग्रहों में बदल लेती हैं।

यदि हम तुलना में भाषा को विरासत में लेते हैं तब वह मूक, अस्थिर नीहारिका के रूप में होगी जिसके बिना किसी भाषा को विकसित करने की संभावना भी नहीं होगी। नीहारिकाएं जीव की उन रहस्यमय संभावनाओं की तरह हैं जो मूल कोशिका में रहते हुए भावी तंतुओं को निर्देश देने की शक्ति रखते हैं ताकि वे बाद में पेचीदा और संपूर्ण शारीरिक अंगों का रूप ले सकें।

आध्यात्मिक भ्रूण

क्या हम बच्चे को, जो बाहरी रूप में निष्क्रिय जीव लगता है, भ्रूण नहीं कह सकते हैं, जिसमें जीव की शक्ति और मनुष्य के अंग विकसित हो रहे होते हैं? वह एक तरह का भ्रूण है जिसमें केवल नीहारिकाएं ही होती हैं। उसमें निश्चित रूप से अचानक विकास की शक्ति होती है, पर ऐसा वातावरण के कारण होता है। यह पर्यावरण सभ्यता के अनेक बड़े पर भिन्न स्वरूपों में बहुत समृद्ध है। यही वह कारण है जिससे मानव-भ्रूण अपने को पूर्ण करने से पहले ही जन्म ले लेता है और यही कारण है कि वह आगे विकास केवल जन्म के बाद ही कर सकता है। वास्तव में उसकी ये संभावनाएं इसीलिए वातावरण द्वारा प्रोत्साहित होती हैं।

इस तरह अनेक भीतरी प्रभाव काम करते होंगे, जिस तरह शारीरिक विकास की प्रक्रिया में कई पहलू शामिल होते हैं। विशेषकर उसकी प्रक्रिया में होते हैं जो

जीन पर निर्भर करते हैं, यथा कई हार्मोनों का प्रभाव काम करता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक भ्रूण के मामले में निर्देशित करने वाली संवेदनाएं होती हैं। भाषा के मामले में चेतना वाले अंगों के परीक्षण से पता चलता है कि सुनने का ज्ञान जीवन के प्रथम सप्ताह में सबसे कम विकसित हुआ होता है। फिर भी अत्यंत नाजुक स्वर, जो शब्द से बनता है, उसी इंद्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। अतएव ऐसा लगता है कि कान न केवल एक चेतना-अंग के रूप में सुनता है, अपितु वह विशेष संवेदनाओं से संचालित होता है ताकि वह मानव की बोली से ध्वनि को केवल वातावरण से इकट्ठा कर सके। ये ध्वनियां न केवल सुनी जाती हैं, अपितु ये वाणी देने वाले अंगों, जैसे जीभ, होंठ आदि के नाजुक तंतुओं को प्रतिक्रिया देने के लिए गति देती हैं। इस तरह सभी मांसपेशियों के तंतुओं में केवल वाणी देने वाले अंग ही ऐसे हैं जो उन ध्वनियों को पुनः दुहरा देते हैं। तिस पर भी यह तुरंत सामने नहीं आता है, अपितु इकट्ठा होता रहता है तब तक, जब तक भाषा का जन्म नहीं हो जाता। यह ठीक उसी तरह होता है जैसा कि गर्भाशय में रहते हुए बच्चे का जीवन निर्मित होता रहता है यद्यपि वह क्रियाशील नहीं होता और बाद में निश्चित क्षण पर वह संसार में आने को प्रेरित किया जाता है और अचानक उसकी सारी क्रियाएं शुरू हो जाती हैं।

ये यद्यपि हैं तो अनुमान ही, फिर भी यह तथ्य बना रहता है कि भीतरी विकास होता रहता है जो रचनात्मक ऊर्जा से निर्देशित होता है। यह विकास बाहरी प्रकटीकरण से पहले भी परिपक्वता तक पहुंच सकता है।

जब ये अंततः अपने को उद्‌घाटित करते हैं तब तक वे व्यक्ति के व्यक्तित्व का हिस्सा बनकर उसके जीवन में स्थान पा चुके होते हैं।

आत्मसात् करने वाला मस्तिष्क

निश्चित रूप से ये पेचीदा प्रक्रियाएं वयस्क के मस्तिष्क में स्थापित कार्यप्रणाली का बिलकुल अनुसरण नहीं करती। बच्चे ने भाषा को उस तरह से नहीं सीखा है जिस तरह हम किसी विदेशी भाषा को सीखने का प्रयास करते हैं। इसके लिए हमें अपने मस्तिष्क संबंधी अंगों को अपनी जानकारी से काम में लेना पड़ता है। फिर भी उसने (बच्चे ने) सही, ठोस तथा अद्‌भुत निर्माण किया है जैसे गर्भाशय में अंग का निर्माण होता है और जो पूरी शरीर-रचना का एक हिस्सा भी बनता है।

छोटे बच्चे में, अनजान रूप से सही, एक मानसिक स्थिति होती है जो रचनात्मक प्रकृति की होती है। हम उसे आत्मसात् करने वाले मस्तिष्क की संज्ञा देते हैं। यह आत्मसाती मस्तिष्क किसी स्वैच्छिक प्रयास से नहीं बनता, अपितु आंतरिक संवेदनाओं के अनुरूप होता है जिसे हम संवेदनशील अवधि कहते हैं और यह अवधि कुछ निश्चित समय तक ही सीमित रहती है। इस अवधि में

स्वाभाविक विकास की प्राप्ति हो जाती है जिसे अर्जित करना होता है। इस तरह यदि भाषा के विकास की नीहारिका के मार्ग में कोई बाधा आती है और सुनने वाले अंग की चेतना काम नहीं करती है तो गूंगा-बहरा होने में परिणाम आ सकता है और यह उस स्थिति में, जब उसके सुनने तथा बोलने संबंधी अंग पूरी तरह से सामान्य होते हैं।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा संबंधी उत्पत्ति में कोई रहस्य वाली बात है। यदि हम प्रत्येक बात ध्यान, इच्छाशक्ति और बुद्धि के कारण सीखते हैं तो फिर बच्चा कैसे अपने बड़े निर्माण को हाथ में लेता है जबकि उसे न तो उस समय तक बुद्धि, इच्छाशक्ति या ध्यान की प्राप्ति हुई होती है। यह स्पष्ट है कि उसमें (बच्चे में) हमारे से बिल्कुल भिन्न तरीके से दिमाग काम करता है। ऐसे में जीव की कार्यप्रणाली चेतना वाले मस्तिष्क से भिन्न होती है जो अचेतन वाले में होती है।

इस मामले में भाषा की प्राप्ति (या अर्जन) सबसे उपयुक्त उदाहरण हो सकता है जो हमें इस मानसिकता के अंतर के बारे में विचार दे सकता है क्योंकि भाषा की प्राप्ति सीधे तथा विस्तार से निरीक्षण के द्वारा अध्ययन से ही होती है।

अचेतन मस्तिष्क को उन कठिनाइयों में से एक का भी सामना नहीं करना पड़ता जो हम अलग-अलग भाषाओं के बारे में अनुभव करते हैं। यही कारण है कि हम उनमें से कुछ को सरल तथा अन्यों को एकदम पेचीदा कह कर उनका उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि इस तरह की कठिनाइयों के न होने के कारण उनसे पार पाने के लिए क्रमिक रूप से कदम उठाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। यहां पूरी भाषा को एक साथ और उसी अवधि में लेना पड़ता है। वह भाषा फिर चाहे सरल है या पेचीदा, जैसा कि वयस्क मस्तिष्क समझता है, कोई अंतर नहीं आता। यानी वह इससे किसी तरह प्रभावित ही नहीं होता। एक भाषा से प्राप्त इस पूर्ण परिचय (अर्जन) की तुलना उससे नहीं की जा सकती जब हम एक भाषा को सीखना चाहते हैं और स्मरणशक्ति को उसके लिए प्रयोग करने पड़ते हैं। इसके लिए हमें स्मरणशक्ति को बनाये रखने की आवश्यकता के अभाव की बात सामने आती है। यह वयस्क के मामले में स्पष्ट है कि वह थोड़े-से समय की इस प्राप्ति को हाथ से निकलने देता है। अचेतना की प्रवृत्तियों के समय में भाषा अमिट रूप से मस्तिष्क पर अंकित हो जाती है और एक खूबी बन कर रह जाती है और वह मनुष्य में स्थापित हो जाती है। लेकिन कोई भी भाषा, जो मनुष्य मातृभाषा के अलावा और जोड़ना चाहता है, ऐसी खूबी नहीं बन सकती और कोई भी पहले की तरह (मातृभाषा की तरह) उसकी निश्चित अधिकारिता का दावा नहीं कर सकती।

वयस्क के मामले में यह दूसरी बात हो जाती है जो चेतनायुक्त मस्तिष्क से कोई भाषा सीखना चाहता है। यह साफ है कि किसी पुरानी भाषा को सीखना

सहज है, जिसकी व्याकरण सरल होती है, जैसी कि मध्य अफ्रीका के लोगों की कई भाषाएं हैं। इन भाषाओं को अक्सर मिशनरी सीख लेते हैं। ये मिशनरी अपनी समुद्रपारीय यात्राओं तथा रेगिस्तानों को पार करते समय यह काम कर लेते हैं ताकि अपने ठिकाने पर पहुंच सकें। इसके विपरीत जटिल भाषाओं, जैसे लैटिन, जर्मन या संस्कृत को सीखना बड़ा कठिन है। विद्यार्थियों को इन्हें सीखने में चार, पांच या आठ वर्ष तक लग जाते हैं फिर भी उनमें वे पारंगत नहीं हो पाते हैं। जीवित लेकिन विदेशी भाषा पर पूरा अधिकार हो नहीं पाता। व्याकरण संबंधी कुछ गलतियां या विदेशी लहजा यह नहीं है। यही क्यों, यदि यह विदेशी भाषा बराबर बोली नहीं जाती है तो यह जल्दी भुला भी दी जाती है यानी बिना निरंतर अभ्यास के उसे याद रखना भी संभव नहीं है। किसी की मातृभाषा-स्मृति को नहीं सौंपी जाती है। यह तो अलग प्रकार की स्मृति में जमा होती रहती है और यह, जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक व जीववैज्ञानिक मुख्य स्मृति कहते हैं, जैसी होती है। कुछ यह मानते हैं कि यह आनुवंशिकता द्वारा प्रेषित होती है और अनंत काल तक ऐसा होता है और उसे ही मुख्य शक्ति माना जाता है।

सरसरी तौर पर तुलना करने से इस अंतर को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकेगा। अब हमें एक फोटोग्राफ की तुलना एक रेखाचित्र से, जो हाथ द्वारा बुद्धिमत्ता से बनाया जाता है, करनी है। दूसरे शब्दों में यह लिखकर, खाका बना कर या चित्र बनाकर तैयार किया जाता है। इधर कैमरा अपनी संवेदनशील फिल्म में एक ही बार में उसके सामने आने वाली किसी चीज को प्रकाश के द्वारा उतार सकता है। इसमें कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है और पूरे वन-क्षेत्र का फोटो उतार लिया जाता है न कि अकेले एक वृक्ष का। इसी तरह लोगों के समूह का उसकी पृष्ठभूमि के साथ फोटो उतार लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अकेले चेहरे का। आकृति की चाहे जितनी जटिलताएं हों, कैमरा हमेशा उसी तरह फोटो खींच लेता है और उसी तात्कालिक चमक के साथ एक पल में। जब कैमरा खोला जाता है तब प्रकाश की किरण उसमें प्रवेश पाकर फिल्म तक पहुंचती है। भले ही कोई किताब के आवरण और उस पर लिखे पुस्तक के नाम का या फिर उसके पूरे पृष्ठ का, जिस पर सुंदर छपाई हुई हो, का फोटो लेना चाहें तो दोनों ही काम एक ही तरीके से होते हैं और उसमें उतना ही समय लगता है। इतना ही नहीं, परिणाम भी एक-सा ही आता है।

दूसरी तरफ यदि कोई रेखाचित्र बनाना चाहे तो यह उसके लिए चुने गये विषय के अनुसार या तो सरल या फिर कठिन भी हो सकता है। इसमें समय भी वैसा ही लगेगा। किसी का चेहरा बनाना हो तो उसमें और पूरी आकृति बनाने के समय में बड़ा अंतर होगा। उससे भी अधिक समय लोगों के समूह को या प्राकृतिक

दृश्य को चित्रित करने में लगेगा। फिर इस पर भी हाथ से बनाये गये चित्र में वे सब बातें नहीं आ सकतीं जो हम देना चाहते हों। इतने पर भी जब किसी विषय का अधिकृत दस्तावेज चाहिए या फिर शरीर की स्थिति-विशेष के लिए फोटो की मांग की जाती है, न कि किसी रेखाचित्र की। इसी तरह पुस्तक के नाम की नकल करना तो काफी सरल है और शीघ्रता से ऐसा किया जा सकता है, परंतु बारीकी से लिखे गये पृष्ठ की नकल करना वैसा सरल नहीं है और हाथ से किये गये काम और उसकी प्रगति से थकान का पता लगता है। साथ ही, इसके लिए किये गये प्रयास भी सामने आते हैं। लेकिन फोटो खींचने के बाद कैमरे के साथ ऐसा कुछ नहीं होता और वह पहले जैसा ही बना रहता है और न जो कुछ हुआ उसके बारे में ही कुछ बताता है। फोटो की प्रति प्राप्त करने के लिए फिल्म को अंधेरी जगह में बाहर निकालना पड़ता है और उसे रासायनिक तत्त्वों से धोना पड़ता है। इससे फोटो की आकृति स्थिर होती है और उस प्रकाश से स्वतंत्र हो जाती है जिसकी वह उपज है। एक बार जब आकृति स्थिर हो जाती है तो फिल्म को धोया जा सकता है और फिर उसे प्रकाश में खुला छोड़ा जा सकता है। क्योंकि आकृति अमिट जो हो जाती है। इस तरह जिसका फोटो लिया गया है उसको वह पूरे विस्तार से बताता है।

ऐसा लगता है कि आत्मसात् करने वाला मस्तिष्क भी उसी ढंग से काम करता है। वहां भी आकृतियां अचेतन रूपी अंधकार में छिपी रहनी चाहिए और उसे स्थिर करने के लिए रहस्य वाली संवेदनाओं की आवश्यकता होती है, यद्यपि बाहर ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता है। जब यह चामत्कारिक बात प्राप्त कर ली जाती है तब इस रचनात्मक उपलब्धि को चेतना के प्रकाश में लाया जाता है और वह वहां पूरे विवरण के साथ अमिट बनी रहती है। भाषा के मामले में हम सवा दो वर्ष की आयु तक पहुंचने के तुरंत बाद एक विस्फोट के रूप में देखते हैं। साथ ही उस समय कुल विशेष ध्वनियां, शब्दों के उपसर्ग और प्रत्यय, उनके शब्द-रूप व क्रिया-रूप वाक्यों को बनाना आदि सब-कुछ आ जाता है। फिर यह अमिट भाषा हो जाती है जो बाद में जातिगत (वंशगत) विशेषता बन जाती है।

यह आत्मसात् करने वाला मस्तिष्क सचमुच में मानवता को एक बड़ी अनुपम भेंट होती है।

केवल रहने से और बिना जाने-बूझे किसी तरह का प्रयास किये व्यक्ति पर्यावरण से भाषा जैसी पेचीदा सांस्कृतिक उपलब्धि भी आत्मसात् कर लेता है। वयस्क में यदि यह आवश्यक मानसिक स्वरूप रहता, तब हमारा अध्ययन कितना सरल हो गया होता! कल्पना कीजिए कि हम किसी दूसरी दुनिया में चले जाते हैं, जैसे वृहस्पति ग्रह में और हम वहां मनुष्यों को देखते हैं जो केवल चलते-फिरते या वहां रहते हुए सब तरह के विज्ञानों को बिना किसी तरह के अध्ययन के आत्मसात्

कर लेते हैं और जो सब तरह के कौशल बिना किसी अभ्यास के प्राप्त कर लेते हैं। तब हम निश्चय ही यह कह उठेंगे कि कितना महत्त्वपूर्ण और सौभाग्यशाली चमत्कार है। पर यह मनमौजी मानसिक स्वरूप यहां भी विद्यमान है। छोटे बच्चे का मस्तिष्क यह बात बताता है जो अभी तक रचनात्मक अचेतना के रहस्यों में छिपा हुआ है।

यदि यह भाषा के मामले में घटित होता है तो मनुष्य ने शताब्दियों के बौद्धिक प्रयास के बाद ध्वनियों को बनाया है ताकि विचारों को प्रकट किया जा सके। तब तो यह मानना सरल है कि इसी तरीके से अन्य विशेषताओं को, जो एक जाति को दूसरी से अलग करती हैं, बच्चे में जोड़ा जा सकता है।

ये हैं आदतें व रिवाज, पूर्वग्रह तथा भावनाएं एवं वे सब सामान्य विशेषताएं जिनके बारे में हम सोचते हैं कि वे भीतर से उत्पन्न होती हैं और वे खूबियां, जो स्वतंत्र रूप से हमारा हिस्सा हैं और उनमें भी परिवर्तन की चाह के बावजूद, जो हमारी बुद्धि तर्क और युक्ति लाने की इच्छुक है। मुझे स्मरण है **गांधीजी** का वह कथन, "मैं पश्चिमी लोगों के कई रिवाजों को स्वीकार कर सकता हूं और मान भी सकता हूं परंतु मैं कभी भी अपनी आत्मा से गाय की पूजा को नहीं छोड़ सकता हूं।" कई लोग यह सोच सकते हैं, "हां, मेरा धर्म तर्क की कसौटी पर मुझे असंगत लग सकता है फिर भी वह मेरे साथ है, मेरे विरोध के बावजूद।" एक रहस्यपूर्ण निष्ठा की भावना पवित्र चीजों के प्रति बनी रहती है और जीवन में उनका सहारा लेने की आवश्यकता बनी रहती है। जो लोग अपनी निषेधाज्ञा के साथ बड़े हुए हैं वे दर्शनशास्त्र में डाक्टर हो जाने के बाद भी उन्हें मिटा नहीं सकते यानी उनसे छुटकारा नहीं पा सकते। बच्चा वास्तव में कुछ निर्माण करता है। वह अपने में जीव संबंधी इसी तरह की विशेषताएं अपने पास के वातावरण के अनुसार पैदा करता है। इस तरह वह बड़ा होते हुए न केवल मनुष्य बनता है, अपितु अपनी जाति का मनुष्य भी बनता है।

इस वर्णन के साथ हमने जीव संबंधी भेद को छूने का प्रयास किया है जो मानवता के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसे अनुकूलन का भेद कह सकते हैं।

अनुकूलन

अनुकूलन, जैसा कि क्रमिक विकास के सिद्धांत द्वारा समझा जाता है, वर्ग (जाति)-विशेष की विशेषताओं को सामने लाकर समाप्त हो जायेगा जिसमें एक वर्ग से दूसरे के बीच अंतर होगा। ऐसा तब तक होगा जब तक इन्हें (विशेषताओं को) जोड़ा नहीं जायेगा और आनुवंशिकता के माध्यम से बिना परिवर्तन के सम्प्रेषित नहीं किया जायेगा।

मनुष्य को पर्यावरण की सभी तरह की परिस्थितियों और अवस्थाओं के अनुकूल अपने को बनाना पड़ता है और कभी भी वह अपनी आदतों को स्थिर नहीं रख सकता, क्योंकि वह सभ्यता के इतिहास के दौरान निरंतर क्रमिक विकास करता रहता है। अतएव उसके पास त्वरित कार्य करने वाली अनुकूलन शक्ति होनी चाहिए जो कि आनुवंशिकता के विकल्प के रूप में जीव विज्ञान क्षेत्र में हो। परन्तु यह अनुकूलन की शक्ति केवल वयस्कों तक सीमित नहीं है, हालांकि यह तथ्य पूरी तरह से सिद्ध है कि पृथ्वी के सभी भौगोलिक क्षेत्रों में, सभी अक्षांशों में और सभी स्तरों पर, समुद्र तल से लेकर सबसे ऊंचे पर्वतों तक में ऐसा होता है। वयस्क सरलता से अपने को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाता है। ऐसा तब होता है जब उसकी जातिगत विशेषताएं उस से जुड़ नहीं जाती हैं। वह उस विशेष क्षेत्र में ही आराम से रह सकता है और अपने को प्रसन्न अनुभव करता है जबकि वह उस पर्यावरण में घुलमिल नहीं जाता, जिसमें उससे जुड़ी विशेष बातों की हिस्सेदारी है।

जब कोई वयस्क अपना देश छोड़कर दूसरे में जाता है या उन लोगों के बीच रहने लगता है जिनके रीति-रिवाज उससे भिन्न होते हैं, तो भी अनुकूलन की स्थिति अपनानी पड़ती है जिसका परिणाम बहुधा काफी पीड़ादायक होता है और इसके लिए प्रयास करने होते हैं। खोज करने वाले सचमुच में बहादुर होते हैं जो अपने जीवन के केन्द्रबिन्दु से बहुत दूर निर्वासित की तरह रहते हैं।

एक बार कोई व्यक्ति जब अनुकूलन की स्थिति में आ जाता है तब भी वह अपने केन्द्र में ही प्रसन्न रहता है और उन परिस्थितियों में ही, जो उसके जातिगत समूह में स्थापित हो चुकी हैं। एस्किमो लोग अपने आर्कटिक वाले पर्यावरण में ही अपने को अच्छा अनुभव करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह इथोपियन अपने जंगलों के प्रति आकर्षित होते हैं। जो समुद्र किनारे रहते हैं उन्हें समुद्र अच्छा लगता है। इसी तरह रेगिस्तान में रहने वालों को शुष्क भागों तथा मैदानों का गुणगान अच्छा लगता है, यानी उन्हें अपना रेगिस्तान ही सुहाता है। जो अपने को इसके अनुकूल नहीं बना सकते, वे अपने को इस तरह के प्रयासों के अभाव में दुःखी बनाते हैं। मिशनरी अपने जीवन को किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित कर देते हैं।

बच्चा वह साधन है जो न केवल प्रत्येक व्यक्ति को पृथ्वी के अपने हिस्से से प्यार करना सिखाता है और उसे अपने को अपने रीति-रिवाजों से बांधता है अपितु वह इसी कारण से वह माध्यम है जिसके द्वारा वह सभ्यता के क्रमिक विकास को आगे बढ़ाता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने समय के अनुरूप अपने को ढालता है और अपनों के बीच अच्छी तरह रहता है। जिस तरह हम एक हजार वर्ष पहले के सामाजिक जीवन के अनुसार अपने को नहीं ढाल सकते, ठीक उसी तरह उस बीते युग का मनुष्य भी, जबकि उस समय न तो मशीनें थीं और न यातायात के

तेज साधन। पहले के समय का मनुष्य आज के मनुष्यों द्वारा अपनी खोजों से प्राप्त चमत्कारों से आतंकित हो जायेगा जबकि हम अपने पर्यावरण में आनंद पाते हैं या हम यह भी कह सकते हैं कि ये तो जीवन की सुख-सुविधाएं हैं।

इस बुनियादी अनुकूलन की प्रक्रिया सरल और सीधी है। बच्चे अपने में पर्यावरण को, जो उनके आस-पास है, अवतरित करते हैं और ऐसे मनुष्य को बनाते हैं जो अपने आस-पास के जीवन के अनुरूप अपने को ढालता है। इस काम को पूरा करने के लिए शिशु मानसिक-भ्रूण बनावट वाली स्थिति में प्रारंभ में रहता है जो मनुष्य जाति में ही पाई जाती है। इस अवधि में वह छिपे तौर पर रहता है और प्रकट रूप में सुस्त और खाली होता है।

हमारी शताब्दी के प्रथम दशक में बच्चे के बारे में अध्ययन शुरू हुआ। जिन्होंने भी उसका अध्ययन किया है, वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि उसके जीवन के पहले दो वर्ष बहुत ही महत्त्व के होते हैं क्योंकि इस अवधि में विकास की बुनियादी बातें स्थापित होती हैं और ये ही मानव के व्यक्तित्व को विशिष्टताएं देती हैं या पहचान बनाती हैं, यद्यपि नवजात शिशु के पास कुछ नहीं होता। यहां तक कि उसके पास ऐसी शक्ति भी नहीं होती कि वह अपने-आप हिल सके। जबकि दो वर्ष का बच्चा बोलता है, दौड़ता है समझता है और अपने आस-पास की चीजों को पहचानने की शक्ति भी रखता है। उसकी यह प्रारंभिक अवस्था (शैशवावस्था) आगे भी जारी रहती है और उसका खेलना बना रहता है। उसकी अचेतना वाली अवस्था में संगठन का काम होता है और अपने प्रति चेतना जगाता रहता है।

जीवन का विभाजन निश्चित अवधियों में होता है। हर अवधि में संपदा का विकास होता है जो प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है।

यदि इन नियमों का सम्मान नहीं होता है तो व्यक्ति का निर्माण असामान्य, यहां तक कि भीमकाय रूप में भी हो सकता है। यदि हम उनका ध्यान रखते हैं, उनकी खोज करने के इच्छुक हैं और उनके साथ सहयोग करते हैं तो अज्ञात और आश्चर्यजनक चरित्र की खूबियां, जिनके बारे में हमें तनिक भी संदेह नहीं होता है, सामने आ सकती हैं। धीरे-धीरे हम उनमें आंतरिक रहस्यपूर्ण कार्यप्रणाली पा सकते हैं जो मनुष्य के मानसिक निर्माण को निर्देशित करती है।

बच्चे में बहुत-सी शक्तियां होती हैं जिनका हम अभी तक उपयोग नहीं कर पाये हैं।

सभ्यता के वर्तमान चरण की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि बाल-शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चला जा रहा है जिसमें बच्चे का दम घुटता है और वह विकलांग बनता है। यह सब एक ही तरह के पूर्वग्रह रूपी गलती के कारण हो रहा है।

दुनिया से सम्पर्क

इस बीच एक तर्कसंगत निष्कर्ष सामने आता है। यदि बच्चा जन्म के बाद आगे अपना व्यक्तित्व बनाता है, अपने पर्यावरण की कीमत पर, तो उसे दुनिया के सम्पर्क में लाना पड़ेगा। यह मनुष्य के बाहरी जीवन से ही संभव है। उसे वयस्कों के जीवन-क्षेत्र में भाग लेना होगा या यूं कहिये उसे उसमें भाग लेना होगा। यदि बच्चे को अपने लोगों की भाषा को अपने में उतारना है तो उसे वयस्कों को बात करते हुए सुनना होगा और उसे उनकी बातचीत के समय उपस्थित रहना होगा। उसे आस-पास के वातावरण को अपनाने के लिए सार्वजनिक जीवन में भाग लेना होगा और उसे अपनी जाति के रीति-रिवाजों का साक्षी बनना होगा।

इसका आश्चर्यजनक और प्रभावी निष्कर्ष क्या है? **यदि बच्चे को नर्सरी के एकांतवास में भेज दिया जाता है और इस तरह वह सामाजिक जीवन से हट जाता है तो इसका परिणाम उसे दबाने, अल्पविकसित रखने और कुरूप बनाने में आयेगा।** आखिर वह असामान्य बन जायेगा और अपने को परिस्थिति के अनुकूल ढालने में असमर्थ रहेगा क्योंकि वहां इस बड़े काम की प्राप्ति के लिए आवश्यक माध्यमों से वंचित रहेगा।

क्या छोटे बच्चे को, जो न तो बोल सकता है और न चल सकता है, समाज में लाया जाना चाहिए? क्या उसे वयस्कों के जीवन में हिस्सा लेना चाहिए या सार्वजनिक समारोह में जाना चाहिए? कौन ऐसा होगा जो ये सुझाव देने का साहस करेगा—हमारे समय के पूर्वग्रहों को पूरी तरह उलटने की बात।

इस साक्षी के बावजूद भी समस्या बने बच्चों की संख्या लगातार बढ़ रही है। इसी तरह पिछड़ने वाले बच्चों की भी चरित्र और पहल करने में पीछे हैं। ऐसे भी बच्चे हैं जिनका भाषा पर कोई अधिकार नहीं है, जो बोलने में हिचकिचाते हैं और हकलाते हैं। इस तरह वे असंतुलित वयस्कों के रूप में बढ़ते हैं। ये ही मानसिक असामान्यता से पीड़ित होते हैं, जो उनके सामाजिक जीवन को बाधित करती है। यह सब उनके स्वास्थ्य की अच्छी देख-रेख और पूरी नींद के बाद होता है। इस प्रमाण के बावजूद बहुत-से लोग कहेंगे कि यह सब वास्तव में एक बुराई पर आपका उपचार भी तो बेहूदा है।

तो फिर हम पुनः प्रकृति की तरफ चलें, क्योंकि यदि यह रचनात्मक, अनुकूलन नवजात शिशु के लिए मुख्य सामाजिक कार्य है तो प्रकृति ने इसके संरक्षण और इसे सुगम बनाने के लिए प्रावधान किये ही होंगे।

अच्छा तो, हम देखते हैं कि प्राकृतिक और आदिमकालीन जीवन में ठीक वही होता था जिसकी हम वकालात कर रहे हैं। नवजात शिशु, छोटा बच्चा,

आध्यात्मिक भ्रूण—जिन्हें अपने पर्यावरण से अपनी जाति की खूबियों की तैयारी करके बनाना पड़ता है, हमेशा वयस्क के सामाजिक जीवन में भाग लेता रहता है। माता अपने बच्चे को, जहां भी वह जाती है, अपने साथ ले जाती है। खेती करने वाली महिला अपने खेतों में अपने बच्चे को ले जाती है, उसे बाजार भी ले जाती है या उसे चर्च भी अपने साथ ले जाती है। वह तब भी उसके साथ रहता है जब वह अपने पड़ोसियों से बातचीत कर रही होती है।

दुग्धपान आध्यात्मिक भ्रूण को अपनी माता से जोड़े रखता है। यह ऐसी बात है जो सभी जातियों में सामान्य रूप से पाई जाती है। यही क्यों, जिस तरह से माताएं अपने बच्चों को ले जाती हैं, वे अलग-अलग लोगों की चारित्रिक खूबियों को बताती हैं। एस्किमो माताएं अपने बच्चे को पीठ पर रखती हैं, जापानी माताएं अपने कंधे पर बांध कर ले जाती हैं, तो भारतीय महिला कूल्हे पर। स्विट्जरलैंड के कई भागों में माताएं अपने बच्चों को सिर पर रखकर ले जाती हैं। ये माताएं दूसरी प्राकृतिक कार्यप्रणाली को बताती हैं जो आत्मिक प्रकृति का है। वे अनजाने में ही यह कार्य करती हैं जो उनके अपने वर्ग के उद्धार के लिए जरूरी है। माताएं शिक्षा में क्रांति करने वाली होती हैं। वे अपने बच्चों की शिक्षक नहीं होतीं। वे उन्हें सीखने को नहीं कहतीं। न उन्हें किसी तरह की खोज करने को कहती हैं। वे तो उन्हें लाने-ले जाने का एक वाहन हैं। वे इस बात की कतई चिंता नहीं करती कि बच्चा क्या देखता है। दूसरों की तरह उनके लिए भी बच्चा खाली रहने वाला एक मूक प्राणी है, जो कोई मानसिक या गति वाला काम नहीं कर सकता। इसे ईश्वरीय या प्राकृतिक व्यवस्था कहा जा सकता है क्योंकि माता जो देखती है उसे बच्चा नहीं देखता और जो बच्चा देखता है उसे माता नहीं देखती।

इन तथ्यों को एक आदिम जाति वाली भीड़ में देखा जा सकता है जो दिलचस्प बात है। एक ग्रामीण बाजार में, जहां लोग, जानवर और सब तरह की चीजें, फल, कपड़ा आदि होते हैं एवं वहीं पर लोग अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं। वहीं पर हम देख सकते हैं कि शिशु, जो अभी भी स्तनपान करता है, कई चीजों को टुकुर-टुकुर देखता रहता है। वह वातावरण को उसके विविध पहलुओं के साथ देखता है जबकि उसकी माता अपनी खरीदी करती रहती है और लोगों से बातचीत भी करती रहती है। (उसकी संपूर्णता के साथ) की ओर नहीं जाती है लेकिन शिशु ऐसा नहीं करता। यानी वह सब देखता रहता है। माता तो उन फलों को देखती रहती है जिन्हें वह खरीदना चाहती है। इधर शिशु जब किसी कुत्ते या गधे को इधर-उधर घूमते देखता है तो वह रोमांचित हो जाता है। इस तरह दोनों की रुचियां एक-दूसरे से एकदम स्वतंत्र है। यूं देखा जाये तो बच्चा

अपनी माता के साथ कई बार इस तरह से ले जाया जाता हैं या रहता है कि वह दूसरी (विपरीत) दिशा में देखने की स्थिति में होता है। उसकी माता के परिचित, जो उससे रास्ते में मिलते रहते हैं या मिल सकते हैं, शिशु को कुछ अच्छी बातें कहने के लिए रुकते हैं। और इस तरह अनजाने में ही उसके लिए भाषा के कई पाठ दोहरा दिये जाते हैं।

आदिम जातियों में स्तनपान बहुत लंबा चलता है—यह एक या दो वर्ष भी चल सकता है। जीवन के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल में बच्चा परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है। यह शरीर के लिए वास्तव में अनावश्यक है कि बच्चे को उसकी माता के दूध पर इतने लंबे समय तक पाला जाय। लेकिन माता में रहा ममत्व उसे अपने बच्चे से अलग नहीं होने देता और वह उसे हर समय अपने साथ ले जाती है, हालांकि बच्चे का वजन निरंतर बढ़ते रहना स्वाभाविक है।

एक फ्रेंच मिशनरी को, जिसने केन्द्रीय अफ्रीका के बंतु लोगों के रीति-रिवाजों का विशेष रूप से अध्ययन किया है, यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वहां की माताएं अपने बच्चों को अपने से अलग रखने का सोचती तक नहीं हैं। वे बच्चे को अपना हिस्सा मानती हैं। यहां तक कि वहां की रानी शाही समारोह जैसे गम्भीर अवसर पर भी अपने बच्चे को हाथों में लिये आई और सर्वोच्च पद का सम्मान भी अपने बच्चे को साथ में रखते हुए प्राप्त किया। उसे यह जानकर भी आश्चर्य हुआ कि बंतु महिलाएं इतने लंबे समय तक अपने बच्चों को स्तनपान करा सकती हैं। सामान्यतया यह पूरे दो वर्ष तक चलता रहता है। दूसरे शब्दों में यह जीवन के इस पूरे महत्त्वपूर्ण काल तक जारी रहता है जो आज के समय में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के लिए विशेष रुचि वाला है।

इन प्राकृतिक रिवाजों को निश्चय ही क्रांतिकारी नहीं माना जायेगा। हम उनकी सराहना कर सकते हैं और उसे इन बच्चों के चरित्र का हिस्सा मानते हैं और यह कठिन भी नहीं है और न यह हमारी तरह कोई समस्या पैदा करता है। इसका रहस्य दो शब्दों में छिपा है, ये हैं—दूध और प्यार।

चतुर प्रकृति वह आधार है जिस पर सर्वोच्च प्रकृति का, जो अधिक पूर्ण है, निर्माण संभव है। यह तो निश्चित है कि प्रगति को प्रकृति से आगे निकलना चाहिए और उसे अलग-अलग रूप धारण करने चाहिए। फिर भी ऐसा प्रकृति को रौंदते हुए तो नहीं होना चाहिए।

ये संक्षिप्त बिन्दु उन वर्ग संबंधी कथनों के लिए एक व्यावहारिक मार्ग खोलता है जो हमारी वैज्ञानिक दुनिया की सोच का प्रारंभ करते हैं, जबकि यह कहा जाता है, 'शिक्षा की शुरुआत जन्म से होनी चाहिए।'

निष्कर्ष

मनुष्य का शरीर वनस्पति वाला शरीर नहीं है जो केवल भौतिक पोषण पर ही जीवित रहता है और न ही यह केवल कामुक भावनाओं पर आधारित है। मनुष्य वह उच्च स्तर का प्राणी है जिसे बुद्धि मिली हुई है और उसे पृथ्वी पर बड़े काम करने हैं। उसे दुनिया को रूपान्तरित करना होता है, उसे जीतना होता है। उसका उपयोग करना होता है और नई दुनिया को बनाना होता है जो आश्चर्यजनक हो और प्रकृति के चमत्कारों से भी आगे निकलती हो। यह मनुष्य ही है जो सभ्यता को बनाने वाला है। यह काम तो असीमित है और यह उसके हाथ-पैरों का उद्देश्य भी है। जब से वह प्रथम बार धरती पर दिखाई दिया है तब से वह काम करने वाला है।

मनुष्य के सबसे पुराने और बड़े काम के अवशेष पत्थरों के वे टुकड़े हैं जो उसने अपनी आवश्यकतानुसार तराशे थे, जो बढ़ती पाते रहेंगे और जिनकी कोई सीमा नहीं है। वह सभी प्राणियों पर अपना प्रभाव जमाने वाला बन गया है और साथ ही वह सब का और ब्रह्मांड में फैली सारी शक्तियों का नियामक भी। ऐसे में यह लगता है कि मनुष्य की यह प्रकृति बनती है कि बच्चे को प्रारंभ से ही वातावरण को आत्मसात् करना प्रारंभ कर देना चाहिए और उसे अपना विकास काम के द्वारा ही पूरा करना चाहिए। उसे अपने आस-पास के बारे में धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त करना चाहिए। वह मानवीय गुणों का पोषण करता है और उनका विकास भी करता है, पर पहले तो यह अचेतन आत्मसात् के द्वारा होता है और बाद में बाहरी चीजों की तरफ इंगित करने वाली प्रवृत्तियों के द्वारा किया जाता है। वह अपना निर्माण स्वयं करता है और अपनी प्रेरणा को पोषित करते हुए अपनी विशेषताओं को बनाता है।

यदि विकास को शारीरिक वृद्धि एवं विकास तक ही सीमित रखा जाता है तो बच्चे का मस्तिष्क एक तरह से भूखा या पोषणविहीन ही रह जायेगा और उसे कभी संतुष्ट नहीं किया जा सकेगा। फिर तो वह मानसिक रूप से पोषणविहीन या कम पोषण से होने वाली गंभीर बुराइयों का शिकार हो जायेगा।

साधारणतया मानवीय कारण बच्चे के विकास में सहायक नहीं होते हैं। अभी तक कुछ लोगों ने खोज निकाला है कि साफ तौर से आज के बच्चे में दिखाई देने वाली मानसिक असामान्यताएं, जो उसमें प्रारंभ के वर्षों में अपने को प्रकट कर देती हैं, दो कारणों से हैं। एक तो मानसिक कुपोषण और दूसरा बुद्धि की कमी एवं स्वेच्छा से प्रवृत्ति करने का अभाव है। उनका कारण भी दूसरे शब्दों में उनकी प्रमुख शक्तियों का दमन है जो उनका आत्मिक विकास करने वाली होती हैं। ऐसा तब होता है जब उन नियमों को, जो बच्चों को बढ़ती का मार्ग दिखाते हैं, धीरे-धीरे चरणबद्ध तरीके से मिटा दिया जाता है।

तब सभ्य संसार एक तरह का बड़ा बंदीगृह बन जाता है जहां सभी मनुष्यों को ठूंस दिया जाता है और जहां वे बंदी बना दिये जाते हैं, मूल्यहीन कर दिये जाते हैं और रचनात्मक प्रवृत्तियों का नाश कर दिया जाता है। इतना ही नहीं, जीवन को शक्ति देने वाली प्रेरणाओं से वंचित कर दिया जाता है। ये प्रेरणाएं हर मनुष्य का अधिकार है, जो उसे प्यार करने वालों से प्राप्त की जा सकती हैं।

इस अस्पष्ट कथन को भी निम्न प्रकार से ठोस रूप दिया जा सकता है : 'जन्म से लेकर आगे तक के लिए एक नई शिक्षा बनाई जानी चाहिए। शिक्षा के ढांचे का पुनः निर्माण होना चाहिए और उसका आधार प्राकृतिक नियम होने चाहिए, न कि वयस्क व्यक्तियों के पूर्वग्रह और पूर्वधारणा और विचार।'

यहां तक कि आज की शिक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर भी आधारित नहीं है और वह पूरे मनुष्य को सामने नहीं रखती है क्योंकि आजकल बच्चों के साथ जन्म से ही ऐसा व्यवहार विकसित किया जाता है जिसे स्वास्थ्य विज्ञान ने उनके लिए निर्धारित कर रखा है अर्थात् अच्छा पोषण-विशेष रूप से कृत्रिम आहार। यह माता को बीच में से हटा कर सुगम बना दिया गया है और वह (माता) इस बात के लिए तैयार हो जाती है कि अब उसके पास बच्चे को पिलाने के लिए दूध नहीं है। फिर नर्सरी में बच्चे का अलगाव शुरू हो जाता है और उसे एक अनजान महिला को सौंप दिया जाता है जिसमें बच्चे के लिए माता जैसा प्यार नहीं होता है। बच्चे को बनावटी अंधेरे में सुलाया जाता है, जो दिन के प्रकाश को बाहर रोककर तैयार किया जाता है। जब वह घर के बाहर बच्चागाड़ी में ले जाया जाता है तो कपड़े से ढका होने के कारण वह कुछ भी देख नहीं पाता है। चूंकि उस गाड़ी को धकेला जाता है, अतः बच्चे के सामने केवल धाय होती है जो एक तरह से दुर्बलता का प्रतीक होती है, क्योंकि वह काफी बूढ़ी होती है। ऐसा समझा जाता है कि बच्चों की देख-रेख के लिए बूढ़ी महिलाएं अधिक अनुभवी होती हैं। ऐसे में एक सुंदर युवा माता की ममत्व वाली दृष्टि बच्चे के लिए अज्ञात ही बनी रहती है। उधर उसकी शारीरिक बढ़ती होती रहती है। चिकित्सा विशेषज्ञ और मनोवैज्ञानिक यह कहने का साहस करते हैं कि वह तो अन्न पचाने वाली नली जैसा होता है। उसे सुलाने के लिए शांति का वातावरण चाहिए, पर उसकी जगह मानवीय आवाजें सामने आती हैं। इस तरह से पाचन वाली नली का बहुत अच्छी तरह से अध्ययन होता है। उसके आहार की मात्रा और गुणवत्ता को नापा जाता है। उसके आहार को बड़ी सख्ती से नियमित व श्रेणीबद्ध किया जाता है। उसकी बढ़ती पर ध्यान रखने के लिए उसे (बच्चे को) बराबर तोला जाता है। माता द्वारा, अपने बच्चे को जो बार-बार लाड़-प्यार करती है, उसे भी समाप्त कर दिया गया है। फिर भी यह प्रकृति है जो उन्हें प्रेरणा देती है क्योंकि जीवन के लिए वही उत्प्रेरक है और

चेतना के लिए बुलावा भी। उसी तरह नर्म हाथों से मालिश करने से मांसपेशियां तैयार होती हैं जो अभी तक निष्क्रिय हैं। जब तक स्वैच्छिक गतिविधियां पूरी तरह विकसित नहीं होती तब तक ऐसे व्यायाम की आवश्यकता रहती है।

यह तो सचमुच में बड़ी ही अद्भुत स्थिति है। यह आतंक जैसी बात है। ऐसा न हो कि मां के लाड़-प्यार और सम्पर्क को ही खतरनाक और अश्लील मान लिया जाय। नहीं तो यह भी मान लिया जायेगा कि वे उस बच्चे में, जो अभी-अभी संसार में आया ही है, यौन भावनाएं उभारती हैं। लेकिन लाड़-प्यार के बिना बच्चों में चरित्र और नया ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो सकती है, जबकि जिस दुनिया में वे आये हैं, वह बड़ी जटिल है।

ऐसे में यह जरूरी हो गया है कि समाज गहराई तक जड़ जमायी इन भूलों से जागे और भटकी सभ्यता के इन बंदियों को मुक्त करे। उसे उनके लिए विश्व द्वारा स्वीकृत ऐसी तैयारी रखनी चाहिए जो उनकी सर्वोच्च आवश्यकताओं के अनुसार हो, जो वास्तव में मानसिक जरूरतें ही हैं।

उनमें से एक बहुत ही आवश्यक प्रयास तो ऐसा होना चाहिए जो समाज का पुनः निर्माण करे और यह शिक्षा के पुनः निर्माण के रूप में होना चाहिए। यह प्रयास बच्चों को ऐसा वातावरण दे जो उनके जीवन के अनुकूल बैठता हो। अच्छा तो पहला वातावरण स्वयं संसार ही है और दूसरे वातावरण, जैसे परिवार और विद्यालय उनसे मेल खाने चाहिए जो उन रचनात्मक प्रवृत्तियों को संतुष्टि दें, जिनसे मानवीय पूर्णता की प्राप्ति को बढ़ावा मिलता हो। यह तभी संभव है जब ब्रह्मांड संबंधी नियमों के अनुसार चला जाय।

जब पूर्वग्रह को ज्ञान के द्वारा समाप्त किया जायेगा तब दुनिया में उच्च स्तर का बच्चा दिखाई देगा। यह बच्चा अनोखी शक्तियों से लैस होगा, जो कि आज छिपी हुई हैं। तब ऐसा बच्चा सामने होगा जो उस मानवता का हिस्सा होगा और वही वर्तमान सभ्यता को समझेगा और नियंत्रित भी करेगा। ❑

खण्ड तीन
विश्व-निरक्षरता

विश्व-निरक्षरता

निरक्षरता एक विश्वव्यापी समस्या है। भले ही कुछ देशों में यह समस्या नामशेष हो गई हो, पर विश्व के अधिकांश देशों में यह बड़ी ज्वलंत समस्या है। इसका अंत अभी नहीं आया है और यह पूरी शक्ति के साथ विद्यमान है। शुष्क आंकड़ों और निरक्षरों का प्रतिशत दर्शाने वाले मानचित्रों के बावजूद यह समस्या अभी भी विद्यमान है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रीय तथा महाद्वीपों की सीमा को पार कर चुका है। उसका क्षेत्र पूरा विश्व बन गया है और पूरी सभ्यता से वह जुड़ गया है। युद्ध के बाद पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के अधिक निकट आये हैं और दोनों ओर के लोगों ने सामाजिक समस्याओं को एक-दूसरे के दृष्टिकोण से समझना शुरू कर दिया है। फिर कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रम का, जैसे भारत को मिली स्वतंत्रता और उसके बाद एक के बाद दूसरे एशियाई देशों का स्वाधीन होते चले जाने का, प्रभाव हुआ है। साथ ही साथ शिक्षा की सहायता से विश्वव्यापी समझ बढ़ाने के प्रयासों को बढ़ावा मिला है ताकि सबके हित सधें। ऐसे में विश्व की ज्वलंत समस्याओं में निरक्षरता की समस्या को भी देखा जाने लगा यानी उसे आज की बड़ी समस्याओं में स्थान मिल गया है। **एक तरफ विश्व में करोड़ों लोग आज भी निरक्षर हैं तो दूसरी तरफ सभी महाद्वीपों में यंत्रवत् सभ्यता के सभी उत्पादों तथा उपकरणों को फैलाया जा रहा है। यह मनुष्य के नैतिक तथा भौतिक उन्नति के चौंकाने वाले विरोधाभास को बताता है। इस तरह यह विश्वव्यापी असंतुलन पैदा करता है। यूनेस्को, जो शिक्षा को लोगों के बीच अधिक सौहार्द बढ़ाने के लिए व्यावहारिक माध्यम मानता है, निरक्षरता के विरुद्ध अभियान को प्रमुखता देता है।**

इधर शिक्षा की समस्या केवल निरक्षरता से जुड़ी हुई नहीं है, अपितु वास्तव में उससे बड़ी व भिन्न है। यह मानव-जाति की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रगति से संबंधित है ताकि वह नये विश्व की बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल सके। अभी वह नई व्यवस्था के लिए न तो तैयार है और न इसका उसे होश ही है। पर यह **शिक्षा साक्षरता के माध्यम से प्रसार पाती है, ठीक उसी तरह जिस तरह रेलगाड़ियां उनके लिए बिछाये गये ट्रेक पर घूमती रहती हैं।**

इस तरह स्वतंत्र भारत के लिए अपने लोगों में शिक्षा का प्रसार करना अत्यंत आवश्यक कार्यों में स्थान पाता है।

प्रत्येक को भोजन उपलब्ध कराने की समस्या के तुरन्त बाद ही सभी बच्चों को शिक्षा देने के लिए स्कूल खुलने चाहिए। साथ ही प्रौढ़ों के लिए **सांस्कृतिक संस्थाओं** की भी उतनी ही आवश्यकता रहती है। पूर्व की सरकारें इस बात को अनुभव करने लगी हैं कि निरक्षरता से मुक्ति ही इस मामले में एक बुनियादी समस्या है, जिसका हल निकाला जाना चाहिए।

डेढ़ शताब्दी पूर्व यूरोप और अमेरिका के देशों के सामने भी ऐसी ही समस्या आई थी। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि निरक्षरता तथा अज्ञान का धीरे-धीरे उन्मूलन किया जाय। इसके लिए उन्होंने वह सब करने की सोची जिसे अंग्रेजी में तीन आर वाली शिक्षा कहा जाता है। **तीन आर** का अर्थ है—पढ़ना (**रीडिंग**), लिखना (**राइटिंग**) तथा गणित (**रिथमेटिक**)। पर मुख्य जोर पढ़ने और लिखने पर दिया गया।

इस प्रयास के मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएं आईं, क्योंकि इस काम के बारे में पहले का कोई अनुभव नहीं था। फिर इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला कोई संकेत नहीं था। ऐसे में अनेक भूलें हुईं। पूर्व की सरकारों को अपने को सौभाग्यशाली समझना चाहिए कि वे इस तरह की बाधाओं और भूलों को दूर रख सकती हैं क्योंकि पश्चिम में प्राप्त अनुभव उनके लिए मूल्यवान सिद्ध होगा। मार्ग अब स्पष्ट है और उस पर वे तेजी से आगे बढ़कर अपने वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकती हैं।

यूरोप में बच्चों को शिक्षित करने के पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति में अनुभव की कमी के कारण हुई भूलों का परिणाम बच्चों को भोगना पड़ा। वे एक तरह की दासता के शिकार हुए, जो मानव-इतिहास में अभूतपूर्व थी। इसका दूसरा उदाहरण ढूंढ़ना कठिन है।

यह बहुत कम लोगों को पता है कि इस भीमकाय सामाजिक प्रयास को सफलता मिलने की दिशा में बड़ा प्रोत्साहन एक ऐसी क्रांति ने दिया जिसने यूरोप में एक नये युग को जन्म दिया। वास्तव में उसने वैज्ञानिक खोजों को जन्म दिया और साथ ही बड़े पैमाने पर यंत्रों के उपयोग को भी।

सन् 1789 की **फ्रेंच क्रांति** ने एक अद्भुत विचार को जन्म दिया। लोकप्रिय विद्रोह की निर्मम हिंसा के बीच लोगों ने इस बात का दावा किया कि **मानव के अधिकारों में एक बेहतर—लिखित भाषा का अधिकार भी होना चाहिए।** यह एक तरह से अनोखा तथा अभूतपूर्व दावा था। यह लोगों को गरीब रखने

वाली दमनकारी शक्ति के विरुद्ध हुए विद्रोह से कोई संबंध रखने वाली बात नहीं थी। इस तरह लोगों ने न केवल रोटी और काम की ही मांग नहीं की, जैसा कि बाद में उन्होंने मार्क्स की शिक्षाओं के अनुसार मांग की भी, और न सामाजिक उत्तराधिकार तथा राजनीतिक प्रशासन में परिवर्तन की ही मांग की। उन्होंने मानव के उस अधिकार की मांग की जो उन्हें सूचनाओं से परिचित रखता हो ताकि वे 1791 में मान्य मानव और नागरिक अधिकारों के घोषणा पत्र में उल्लिखित धारा 11 के अन्तर्गत प्राप्त मानव तथा नागरिक अधिकारों का उपयोग करने की स्थिति में आ सकें। यह धारा कहती है, '**स्वतंत्र रूप से विचारों तथा संवादों का आदान-प्रदान मूल्यवान अधिकारों में से एक है। इस तरह प्रत्येक नागरिक को बोलने-लिखने और छपाने का मुक्त रूप से अधिकार है।**' वास्तव में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे जब लोगों ने ऐसे अवसर-प्राप्ति की मांग की जिसमें उन्हें नया ज्ञान प्राप्त हो। इस तरह अपने लिए किसी व्यक्तिगत सुविधा के बजाय सामूहिक हित की बात कही गई थी। इतना ही नहीं, इसमें किसी दूसरे की कीमत पर लाभ लेने की बात भी नहीं थी।

यह जो अनुरोध था, वह उस इच्छा से बड़ा था जिसमें दमनकारी शासन का अंत लाना था। ऐसे में नया सामाजिक ढांचा खड़ा करने वाले सिद्धांतों की स्थापना में तो तीन वर्ष ही लगे। इतना ही समय राजतंत्र की समाप्ति में लगा, परन्तु सबको लिखित भाषा का ज्ञान कराने में पूरी शताब्दी की आवश्यकता पड़ी।

यद्यपि उस समय युद्ध का नारा 'मुक्ति' (स्वतंत्रता) था, लेकिन साक्षरता की विजय स्वतंत्रता से नहीं हुई। इसके लिए बाध्यता आवश्यक मानी गई यानी इसके लिए लोगों पर दबाव डाला गया। लोगों का शोषण करने वाली राजाशाही के विनाश से ही इस भीमकाय कार्य की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि व्यवहार में ऐसा करना संभव नहीं था। यह कैसा संयोग था कि यह एक दूसरी तरह की राजशाही की यानी फ्रेंच साम्राज्य की वास्तव में विजय थी। फ्रेंच क्रांति के नायक नेपोलियन ने लोगों को नई शक्ति दी और पुरानी परिस्थितियों को पुनः स्थापित होने से रोका गया जिससे लोगों को निश्चय ही नवजीवन मिला।

उसके चामत्कारिक नेतृत्व में फ्रेंच लोगों ने शताब्दियों की सीमाओं को तोड़ दिया। उसके ऐतिहासिक कार्यों ने उसे वास्तविक विजय का रूप दिया जो आज भी बनी हुई है। इससे लोगों का विकास बौद्धिक स्तर तक हुआ जो मानव के अधिकारों के अन्तर्गत होना भी चाहिए था।

नेपोलियन ने जो संहिता (कोड) बनाई, उसमें **अनिवार्य-शिक्षा** ने राष्ट्रों के बीच पहली बार पदार्पण किया। उन्होंने अपनी यह संहिता यूरोप के लोगों पर

लादी। इसका परिणाम यह हुआ कि **शिक्षा के इस सिद्धांत ने न केवल फ्रांस में विजय पाई, अपितु सारे साम्राज्य में, युद्ध के भयंकर विनाश के साथ।**

अनेक यूरोपीय राष्ट्रों में **अनिवार्य-शिक्षा** को लागू किया गया और उसके बाद उसने अमेरिका की तरफ अपना रुख किया। इस तरह निरक्षरता-उन्मूलन की कठिन यात्रा की शुरुआत हुई। उस समय के सभी सभ्य राष्ट्रों ने इस अभियान को हाथों-हाथ उठा लिया।

इस तरह लोगों को शिक्षित करने के कार्य ने मानव-इतिहास में एक नये अध्याय को खोला। फिर तो इसका निरंतर विकास और विस्तार होता रहा। यह आज भी जारी है। इससे नये कार्य की शुरुआत हुई जिसने प्रत्येक व्यक्ति से बौद्धिक प्रयास करने की अपेक्षा रखी। फिर यह कार्य बच्चों को सौंपा गया।

19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बच्चों ने इतिहास में एक सक्रिय कारक के रूप में प्रवेश पाया ताकि सभ्यता की प्रगति को आगे बढ़ाया जा सके। उसी समय वह उसका शिकार भी बना। **वयस्क की तरह बच्चा इस विजय की आवश्यकता को समझने की स्थिति में नहीं था।** यह विजय सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक भी थी। छः वर्ष की अवस्था में इस तरह हांक दिये जाने से केवल बचपन ही उसकी पीड़ा को समझ सकता है। **यह उसके लिए एक तरह की कैद (बंदिश) तथा दासता का रूप था जिसमें उसे वर्णमाला तथा लेखन की कला के लिए बाध्य किया जाता है। यह एक शुष्क तथा उबाऊ कार्य है जिसके महत्त्व और भविष्य में उससे मिलने वाले लाभों की वह कल्पना कैसे कर सकता है?** भारी डेस्क की तरफ धकेल दिये जाने और एक तरह से दंड के रूप में व दबाव में उसे यह सब सीखना पड़ता है। इसके लिए उसे अपने निर्बल शरीर के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी इसके लिए देना पड़ता है।

ऐसा मानव के पीड़ादायक इतिहास में होता ही रहता है। **सभी बड़ी सफलताएं दासता के मूल्य पर ही प्राप्त की गई हैं।** मिस्र के बड़े-बड़े स्मारक और रोमन साम्राज्य का विस्तार इसकी कहानी कहते हैं। इन सबमें सबसे पहली आवश्यकता चाबुक के अंतर्गत काम कराने की रही यानी **यह कार्य दासता-प्रधान था।** हर तरह के कठोर तथा उबाऊ श्रम के द्वारा यह सब संभव हुआ। फिर इस नये कार्य के लिए भी, जो बौद्धिकता का स्तर बढ़ाने का प्रयास था, दासों की आवश्यकता थी। यह सब इसलिए किया जाना था **ताकि विश्व-स्तर पर पढ़ने और लिखने का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इसके लिए भी मानव-जाति को दास चाहिए और यह नये दास थे बच्चे।**

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक नया आंदोलन शुरू हुआ जो उन परस्थितियों को मिटाना चाहता था, जिनके अंतर्गत बच्चे 'कठिन श्रम' के दंड को भोग रहे थे। यद्यपि इस दिशा में काफी-कुछ किया जा चुका है, फिर भी आज तक बच्चों का उस तरह का ध्यान नहीं रखा जाता जिसका प्राकृतिक मानव-अधिकार उनके लिए मांग करता है।

इस बात को आज भी पूरी तरह समझा नहीं जाता कि आज स्कूल में पढ़ने वाला बच्चा ही कल का 'मनुष्य' है, अतः उसका मूल्यांकन एक उपकरण के रूप में नहीं किया जाना चाहिए जिसके माध्यम से लोग सभ्यता के उच्च स्तर तक पहुंचेंगे; साथ ही राष्ट्रीय उद्देश्यों तथा सामाजिक लाभों को व्यावहारिक रूप में प्राप्त करेंगे। बच्चे की अपनी विशेषताएं हैं। **यदि मानवता में सुधार लाना है तो बच्चे को न केवल अधिक अच्छी तरह समझना होगा, अपितु उसे सम्मान देना होगा और उसकी सहायता करनी होगी। मानवता वास्तव में तब तक अपूर्ण ही रहेगी, जैसी कि वह आज है, जब तक विकास के अलग-अलग स्तर रहेंगे और उसके परिणामस्वरूप सामंजस्य की कमी।** इससे प्रगति के मार्ग में बढ़ने पर बाधा आयेगी और यह आगे भी बनी रहेगी। आज के समय की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं का क्रम इसे सिद्ध भी करता है। ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि उनमें मानव-शक्ति को विकसित किया जाय और इसे अविलम्ब किया जाय।

उन देशों में, जहां **अनिवार्य-शिक्षा** के प्रथम बार दर्शन हो रहे हैं, पुराने मूल्यवान अनुभव को सामने रख कर शुरुआत को उच्च स्तर दिया जा सकता है। ऐसे में बच्चे को उन्नति का एक माध्यम मानने की प्रवृत्ति नहीं रहनी चाहिए। उसे दास भी नहीं समझना चाहिए जिसके कंधों पर सभ्यता की प्रगति का बोझ लाद दिया जाय। शिक्षा की शुरुआत इस तरह होनी चाहिए जो बच्चे के स्वयं के विकास में सहायता करे और इस तरह लोगों की संभावनाओं को बढ़ावा मिले।

बच्चे की आवश्यकताओं और उसके जीवन के लिए आवश्यक सहायता को आधुनिक शिक्षा के बुनियादी आधारों में शामिल करना चाहिए।

बच्चे की आवश्यकताओं को केवल उसके शारीरिक जीवन की आवश्यकताएं ही नहीं समझ ली जानी चाहिए। इनमें उसके बौद्धिक तथा व्यक्तित्व विकास को बराबर का महत्त्व दिया जाना चाहिए। साथ में इन्हें अधिक उच्च महत्त्व का समझा जाना चाहिए। मनुष्य के लिए अज्ञान अधिक घातक है, बजाय कुपोषण और गरीबी के।

अनेक लोग ऐसा सोचते हैं कि बच्चे को सम्मान देना और उसके शारीरिक जीवन को ध्यान में रखने का अर्थ है उसे अकेला छोड़ देना और सुस्त बनाना यानी

उसे किसी मानसिक प्रवृत्ति के बिना रखना। इसके विपरीत जब प्राकृतिक शक्तियों को आधार बनाया जाता है या दूसरे शब्दों में जब शिक्षा की योजना मानव के विकास की विशेष मानसिकता का अनुसरण करती है तब विकास की गति तीव्र और सघन हो जाती है। इसके साथ ही व्यक्तिगत मूल्यों की सघनता की प्राप्ति भी संभव बन जाती है।

मानव-सभ्यता की प्रगति वैज्ञानिक आधार पर ही निर्भर करती है और परिणामस्वरूप शिक्षा को भी यही आधार दिया जाना चाहिए।

अनिवार्य-शिक्षा का प्रारंभ पढ़ना और लिखना सीखने से शुरू होता है और यह उसका आधार भी है एवं इसी आधार पर वह खड़ी भी है। यही कारण है कि पढ़ने और लिखने को प्रथम विषय मानकर सिखाया जाता है। जो भी हो, यह आवश्यक है कि उसे संस्कृति के शेष भाग से अलग समझा जाना चाहिए। लिखने की कला मात्र एक कौशल नहीं है अपितु वह भाषा का बेहतर स्वरूप है जो उसके प्राकृतिक रूप से जुड़ा हुआ है। इसकी प्राप्ति उसी का प्रतिनिधित्व तो है ही। लिखित भाषा उसके बोलने वाले भाग की पूरक है और उसके साथ जुड़ी हुई है। बोली जाने वाली भाषा तो प्रत्येक मानव में प्राकृतिक रूप से विकसित होती है। इसके बिना उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है और वह समाज से कट कर गूंगा और बहरा प्राणी बन कर रह जाता है। भाषा उन विशेषताओं में से एक है जो मनुष्य को पशु से अलग करती है। यह वह उपहार है जो प्रकृति ने केवल उसे ही प्रदान किया है। यह उसकी बुद्धिमत्ता की अभिव्यक्ति है।

मनुष्य की बुद्धि का क्या उद्देश्य रह जायेगा यदि वह अपने विचारों को समझ सकने या उन्हें प्रेषित करने की योग्यता न रखता हो। बिना भाषा के वह दूसरे मनुष्यों के साथ मिल कर किस तरह एक समान उपक्रम पर सहमत हो कर अपना काम कर सकेगा?

बोली जाने वाली भाषा हवा की तरह है जो कानों तक पहुंचती है और जो उसके निकट भी है। यही कारण है कि मनुष्य प्राचीनतम समय से लगाकर आगे भी अपने विचारों को प्रेषित करने के माध्यमों की खोज करता रहा ताकि वे काफी दूर तक जा सकें और उनको स्मरण किया जा सके। पहले चट्टानों पर रेखाचित्रीय संकेतक उकेरे गये या फिर जानवरों की खालों पर लिखा गया। इनके प्रयासों से, जिनका कई बार रूपान्तरण हुआ, वर्णमाला ने धीरे-धीरे आकार लिया। यह प्राप्ति बहुत ही महत्त्व की थी। जैसा कि **श्री रींगर** ने अपनी पुस्तक वर्णमाला (**द अल्फाबेट**) में लिखा है कि यह विजय सबसे बड़ी और अधिक महत्त्वपूर्ण है, बजाय सभ्यता की प्रगति के, अन्यों से, क्योंकि यह पूरी मानव-जाति के विचारों

को शामिल करने में सहायक है। इसके साथ ही यही पीढ़ियों को निरंतर विकास से जोड़ती है। संबंधित वर्णमाला बाहरी विकास तो है ही, साथ में मानव की प्रकृति से भी मेल खाती है। इससे प्राकृतिक भाषा में दूसरी प्रकार की अभिव्यक्ति को जोड़कर उसे पूर्णता देती है।

मनुष्य पशु से उत्कृष्ट तो इसीलिए है कि पशुओं के पास उनकी अपनी कोई स्पष्ट भाषा नहीं है। उसी हिसाब से जो मनुष्य पढ़ और लिख सकता है वह उनसे उत्कृष्ट है जो केवल बोल सकता है। जो मनुष्य लिख सकता है वही केवल आज के समय की संस्कृति के लिए आवश्यक भाषा को जानता है। ऐसे में लिखित भाषा को केवल स्कूलों का एक विषय या संस्कृति का एक हिस्सा ही नहीं समझा जाना चाहिए। यह तो सभ्य मनुष्य की एक पहचान या विशेषता है।

आज की सभ्यता उन लोगों में प्रगति नहीं कर सकती, जब तक वे केवल बोली जाने वाली भाषा ही जानते हैं। ऐसे में निरक्षरता प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़ी हो जाती है।

*　　*　　*　　*　　*

इधर चीन में एक नया प्रयोग हो रहा है जो **चांग काई शेक** और साम्यवादियों के अभियान से भिन्न है। यह तीसरा अभियान है जो एक युवा व्यक्ति ने शुरू किया है। उसने अपनी बुद्धि को चीन की लिपि को सरल बनाने में लगाया है। वह अपने देश की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करेगा जिसे आज तक किसी ने पूरी तरह नहीं समझा। परंपरागत चीनी लिपि में कम से कम 9,000 चिह्नों के ज्ञान की आवश्यकता रहती है। इससे लोगों में फैले अज्ञान को हटाने में बड़ी बाधा आती है। एक तरह से यह असंभव जैसा लगता है। उस युवा सुधारक ने न तो नये विचारों को सामने रखा और न सरकार के नये स्वरूप को प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं, उसने न तो बेहतर आर्थिक सुधारों की बात की और न स्वतंत्रता पर बल दिया फिर भी उसने चीन में बड़ी लोकप्रियता अर्जित कर ली।

यह सिद्ध है कि वह चीनी लोगों का बड़ा हितचिंतक है जो चाहता है कि ये (चीनी लोग) भी विश्व की प्रगति में भाग लें। इस प्रगति तक पहुंचने का मार्ग मानव के व्यक्तित्व के उत्थान से होकर जाता है। चीन के लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि उनका प्रथम तथा बुनियादी अधिकार दो भाषाओं की प्राप्ति है। सभ्य मनुष्य के लिए ऐसी उपलब्धि आवश्यक है। दो भाषाओं का ज्ञान तो प्रारंभिक चरण है। संस्कृति का नंबर तो बाद में आता है।

अतः यह आवश्यक है कि स्कूलों में इस बारे में सोचा जाना चाहिए और **दो भाषाओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए** जो मानव के जीवन-निर्माण में

महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। संस्कृति से परिचय तो द्वितीय चरण में प्राप्त किया जा सकता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए यहां उन अनुभवों को सामने रखा जा रहा है जो उनके बारे में किये गये अध्ययन से सामने आये हैं। यह उनके लिए बहुत उपयोगी रहेंगे जो निरक्षरता को मिटाने के लिए प्रयासरत हैं। छः वर्ष की आयु के बजाय बच्चे चार वर्ष की आयु में आसानी से लिखित भाषा सीख सकते हैं। छः वर्ष की आयु साधारणतया वह अवस्था है जिसमें अनिवार्य-शिक्षा की शुरुआत की जाती है। छः वर्ष की आयु के बच्चों को लिखना सीखने में कम-से-कम दो वर्ष लग जाते हैं और वह भी बड़ी कठिनाई से और प्रकृति के विरुद्ध जाकर। जबकि चार वर्ष के बच्चे कुछ ही महीनों में दूसरी भाषा (लिखित भाषा) सीख जाते हैं। वे इसे बिना किसी प्रयास या पीड़ा के सीख लेते हैं, अपितु वे ऐसा उत्साहपूर्वक करते हैं। इसी तरह की उल्लेखनीय बात ने आज से वर्षों पूर्व इन पंक्तियों की लेखक के मन में एक इच्छा जगाई और वह इच्छा थी अपने जीवन को शिक्षा के लिए समर्पित कर देना। यह स्व-स्फूर्त प्रवृत्ति थी चार वर्ष के बच्चों में लिखना सीखने की इच्छा।

जिस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया जा रहा है उसका व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा मूल्य और महत्त्व है। यदि वास्तव में तथाकथित अनिवार्य-शिक्षा की शुरुआत निरक्षर बच्चों में छः वर्ष की आयु में होती है तो उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जीवन के इस काल में इसका मतलब होता है लिखना और पढ़ना सीखने में समय और ऊर्जा का व्यर्थ जाना। इससे बच्चों पर एक तरह से शुष्क मानसिक दबाव पड़ता है जिससे अध्ययन के प्रति उनमें एक तरह की अरुचि जाग्रत् होती है। यही क्यों, सभी तरह के बौद्धिक निर्देशों के प्रति भी वे यही भाव दर्शाते हैं।

उनमें ज्ञान की भूख भी जागने से पहले ही जाती रहती है। इस तरह उससे (ज्ञान से) अपने को समृद्ध करने के पूर्व ही यह स्थिति आ जाती है। छः वर्ष के होने से पूर्व यदि बच्चों को लिखना-पढ़ना आ जाता है तो स्कूलों में उन्हें संस्कृति का ज्ञान सहजता से और रुचिपूर्वक देना शुरू किया जा सकता है। इस तरह अध्ययन के क्षेत्र में बच्चे बड़े उत्साह के साथ उतर सकेंगे।

यह जो अंतर है वह आधारभूत है। जो आदर्श विद्यालय होते हैं और लोगों से प्रोत्साहन पाने की क्षमता रखते हैं, इन **नये बच्चों** पर निर्भर कर सकते हैं जिन्होंने दो भाषाओं की उपलब्धि प्राप्त कर ली है। यही समय के अनुरूप है।

सभी विद्यालयों में हमेशा शुरुआत पढ़ना-लिखना सिखाने से होती है क्योंकि **लिखने से मानवीय ज्ञान को पक्का करने में सहायता मिलती है।**

यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है क्योंकि विद्यालयों का काम ज्ञान देना है। अतः यह जरूरी है कि बच्चों को ऐसे साधन दिये जावें जो इस ज्ञान को टिकाऊ बनाते हों। **पढ़ना और लिखना, दो ऐसी कुंजियां हैं जिनके द्वारा मानव के पास जो ज्ञान का बहुत बड़ा भंडार है उसको खोला जा सके।** यह ज्ञान पुस्तकों में लिखने की कला के द्वारा इकट्ठा किया जाकर संगृहीत है और सबके लिए प्राप्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दोनों में भेद किया जाना चाहिए क्योंकि लिखना तो स्वयं में कला है और ज्ञान भी।

वर्णमाला के आविष्कार के साथ ही लिखने की पहुंच सब तक हो गई है। इसने इसे इतना सरल बना दिया है कि इसकी पहुंच बच्चों तक हो गई है। इस आविष्कार ने न केवल इसे सरल बनाया, अपितु लेखन को मानवीय बनाया क्योंकि उसने बोलचाल की भाषा को लिखने की भाषा से सीधे जोड़ कर उसे पहले वाली का पूरक भी बनाया।

बोलचाल की भाषा कुछ स्वरों से मिल कर बनती है जो मानव के स्वर-अंगों के सक्रिय होने से मिल कर संभव बनते हैं। इनकी जो सीमा है वह सारी मानव-जाति पर लागू होती है। कुछ भाषाओं में केवल 24 या 26 आवश्यक स्वर ही काम में आते हैं जबकि अन्यों में कुछ अधिक, पर इनकी एक सीमा है।

दूसरी तरफ इन स्वरों के मिलने से बने शब्दों की संख्या की कोई सीमा नहीं होती और व्यवहार में ऐसा ही होता है। किसी भाषा को शब्दों के द्वारा बिना किसी सीमा के समृद्ध किया जा सकता है। किसी भी शब्दकोश में सारे शब्द नहीं आ पाते हैं। फिर किसी भी शब्दकोश में उन शब्दों को नहीं लिया जा सकता है जो अक्षरों को मिलाकर बनाये जा सकते हैं अर्थात् गणित के नियमों के अनुसार क्रम-परिवर्तन और मिलान से ये संभव होते हैं।

वर्णमाला वाली लिखित भाषा में ध्वनि को सामने रख कर उसका संकेत देने वाले रेखाचित्र के अनुरूप शब्द होते हैं। परिणाम यह होता है कि ये चिह्न संख्या में उतने ही कम होते हैं जितने स्वर। जिन्हें ध्वनि वाली भाषाएं कहा जाता है उनमें यह पूर्णता तक पहुंचा होता है। कुछ भी हो, प्रत्येक वर्णमाला वाली लिखित भाषा इस सिद्धांत के आधार पर न्यूनाधिक रूप से पूर्ण कही जा सकती है। यह भी एक तथ्य है कि सभी वर्णमाला वाली लिपियों में बोली जाने वाली भाषा की ध्वनियों के अनुरूप नहीं लिखे जाने की कठिनाई भी है। इससे अर्थ के अनुरूप वर्णमाला की अपूर्णता भी सामने आती है। इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है और इस तरह लिखना अपेक्षाकृत सरल हो सकता है। यह भी एक तथ्य है कि भाषाएं और उनको लिपिबद्ध करना अभी भी विकास की प्रक्रिया में ही है। अभी वे पूर्णता के

मार्ग पर अग्रसर हैं। यही कारण है कि लिखना सीखने की शुरुआत शब्दों की ध्वनि के विश्लेषण से की जानी चाहिए। इसी मार्ग पर चलना चाहिए।

लिखना सीखने के लिए वर्णमाला का सही उपयोग यही हो सकता है कि वर्णमाला के अक्षरों का बोध उन स्वरों के अनुरूप होना चाहिए, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस तरह लिखित शब्दों का जुड़ाव भी बोली जाने वाली भाषा से ही आना चाहिए जो मानव-मस्तिष्क में अपनी संपूर्णता के साथ विद्यमान होती है। यह प्रक्रिया इतनी सरल है कि जो लिखना सिखाने में किसी जादू से कम नहीं होती। वास्तव में वर्णमाला के ये चिह्न साधारणतया इतने सरल और इनकी आकृति इतनी सहज होती है और फिर ये इतने कम होते हैं कि इन्हें आसानी से याद रखा जा सकता है।

तर्कसंगत तरीके से इस निर्णय पर पहुंचा जा सकता है कि यदि यह प्रक्रिया अपनाई जाती है तो लिखना अपने-आप आने लगेगा और वह बोली जाने वाली भाषा का पूरा प्रतिनिधित्व भी करेगी। यह वही भाषा है जो प्रत्येक को सहज रूप से प्राप्त है।

यह एक ऐसी कुंजी है जिससे लिखना सीखने की समस्या को बिना किसी कठिनाई के सुलझाया जा सकता है। इससे न केवल कुछ ही महीनों में लिखना सीखना संभव हो जायेगा, अपितु लिखने की प्रवृत्ति स्वयं स्फूर्त और सहज भी हो जायेगी। साथ ही पूर्णता का कार्य एकाग्रता से करने लगेगा।

वर्णमाला का बोली जाने वाली भाषा के साथ सीधा संबंध है। यही लिखने की कला सीखने का तरीका है। इसमें स्वप्रेरणा भी रहती है। लिखने की क्षमता उस समय प्राप्त हो जायेगी जब सीखे गये शब्दों के विश्लेषण का तरीका आ जायेगा। इसमें सीखने वाले के मस्तिष्क की सक्रियता भी काम करेगी जो इस 'विजय' में रुचि रखती है।

इसके विपरीत यदि पुस्तकों से लिखना सीखने की शुरुआत की जाती है तो इससे सीखने की क्षमता तो प्रभावित होगी ही, क्योंकि इन पुस्तकों में मनमाने ढंग से चुने गये शब्दों के समूह को ही सीखना पड़ेगा। तब तो कठिनाइयां बढ़नी ही हैं। परिणाम एक अलग भाषा के रूप में सामने आयेगा। इससे एक ऐसी लिखित भाषा बनेगी, जिसमें ऐसे शब्द होंगे जिनमें सीखने वालों की रुचि नहीं होगी। ये तो पाठ्यक्रम के अनुसार चलना होगा।

यह तो ऐसा कार्य है जैसे किसी भाषा को गढ़ने का प्रयास करना, जो मूर्खतापूर्ण कार्य होगा। यह तो ऐसा ही कार्य होगा जैसे एक वर्ष की शिशु अवस्था में शब्दों की फुसफुसाहट होती रहती है। इस प्रक्रिया का अनुसरण ठीक वैसा ही

होगा जैसा प्रकृति द्वारा उस समय में किया जाता है जब कोई स्पष्ट बोलने लगता है, बिना बुद्धि का उपयोग किये।

यदि इसके विपरीत वर्णमाला को बोली जाने वाली भाषा के साथ जोड़ा जाता है तो यह प्रक्रिया सिर्फ अपनी भाषा को इन स्पष्ट चिह्नों में बदलने की ही रह जाती है। फिर इसका संबंध उन शब्दों से होता है जिनका मस्तिष्क से जुड़ाव होता है। यूं लिखने के कार्य में यह प्रगति स्वाभाविक आकर्षण के रूप में होती है। इस स्थिति में प्राप्त भाषा द्विगुणित हो जाती है और वह स्थायी रूप धारण कर लेती है। इसमें आंखें और हाथ मिल कर कार्य करते हैं ताकि श्रवण और वाक् अंगों के माध्यम से एकत्रित खजाने का उपयोग हो सके। यद्यपि बोली जाने वाली भाषा उस सांस की तरह है जो आकाश में विलीन हो जाती है, जबकि लिखित भाषा स्थायी उपलब्धि बन जाती है जो हमेशा आंखों के सामने रहती है और उसे अध्ययन करके बढ़ाया जा सकता है।

चूंकि शब्दों का उनकी ध्वनि से सीधा संबंध रहता है, अतः वर्णमाला मानव-जाति के सबसे अधिक महान् आविष्कारों में स्थान रखती है।

यही कारण है कि किसी अन्य आविष्कार के बजाय वर्णमाला ने मानव-प्रगति को अधिक प्रभावित किया है। उसने न केवल स्वयं मनुष्य को सुधारा है अपितु उसे नई शक्तियों से लैस किया है। ये शक्तियां प्रकृतिप्रदत्त शक्तियों के अलावा हैं। इससे मानव को दो भाषाएं मिलती हैं—एक प्राकृतिक तथा दूसरी उस से बढ़ कर भाषा। दूसरी तरह की भाषा से मनुष्य अपने विचारों को दूर-दूर तक लोगों के पास प्रेषित कर सकता है। इतना ही नहीं, वह अपने उत्तराधिकारियों व वंशजों के लिए उन्हें सुरक्षित रख सकता है। इससे वह व्यवहार में बौद्धिक संपदा के एक बड़े खजाने का निर्माण कर सकता है जो पूरी मानवता के लिए समय बीतने के साथ बढ़ता रह सकता है।

एक लेखक ने लिखा है कि यह आश्चर्यजनक बात है कि लिखने का इतिहास शिक्षितों तथा अशिक्षितों, दोनों के लिए विस्मय पैदा करने वाली घटना है। यह इतिहास न तो विश्वविद्यालय में अध्ययन का विषय है और न माध्यमिक विद्यालयों या प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले इतिहास का विषय ही है। यही क्यों, न किसी महत्त्वपूर्ण संग्रहालय ने लेखन के विकास को दर्शाने वाले क्रम को जनता के लिए प्रदर्शन की विषय-वस्तु बनाना ही आवश्यक समझा।

बाहरी प्रगति पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करते हुए मनुष्य ने इस चामत्कारिक उपकरण की तरफ आवश्यक ध्यान नहीं दिया।

लिखना पूर्णतः वर्णमाला का समरूप नहीं है। लिखना विचारों को प्रेषित करने के क्रमिक प्रयासों का एक व्यावहारिक तथा स्थायी तरीका है। इसका

इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। सबसे पहले मनुष्य ने अपने विचारों की विषय-वस्तु को रेखाचित्रों के द्वारा दिखाना चाहा। फिर उसका स्थान चिह्नों ने लिया। इसके बाद काफी समय पश्चात् उसने वर्णमाला के रूप में एक सहज समाधान पाया। विचारों को न केवल चित्रों में दर्शाया जाना चाहिए अपितु भाषा में उसकी अंगभूत ध्वनियों में ही होना चाहिए, क्योंकि केवल भाषा ही विचारों के विषयों को सही और विस्तृत तरीके से अभिव्यक्त कर सकती है। वर्णमाला के द्वारा ऐसा करना संभव है, क्योंकि वह बोले हुए शब्दों को सही तरीके से भाषा में बदल देती है।

* * * * *

वर्णमाला के इस कार्य को लिखना सिखाने में सामान्य तरीके को ध्यान में नहीं रखा जाता है। इसे लिखित भाषा के विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसके बजाय यह, जो वास्तविकता भी है, बोली जाने वाली भाषा की विश्वसनीय पुनः प्रस्तुति है। यह लिखने में ही छिपी रहती है और उसका जो मूल उद्देश्य है उस पर जोर नहीं दिया जाता है। यही कारण है कि इसे सीखने में कोई रुचि उत्पन्न नहीं होती है। इसलिए यह अध्ययन का एक शुष्क तरीका है। इससे बच्चे के मस्तिष्क में इसका उद्देश्य और इसके लाभ काफी समय तक सामने नहीं आते और छिपे ही रह जाते हैं। ध्वनि वाली भाषाओं में लिखित भाषा उसी तरह सिखायी जाती है जैसी कि चीनी लिपि सिखाई जाती है जबकि चीनी लिपि में चिह्नों और शब्दों के स्वरों के बीच कोई संबंध ही नहीं होता है। इसीलिए वर्णमाला की अद्‌भुत तथा व्यावहारिक सादगी उसमें होती ही नहीं है।

इस संबंध में प्रयोग 1907 में रोम में 3 से 6 वर्ष के बच्चों के बीच शुरू हो गये थे। लेखक का विश्वास है कि यह बिना पुस्तकों के सीधे लिखना सिखाने का प्रयास था जिसमें वर्णमाला के चिह्नों को लिखित भाषा के साथ जोड़ा गया था। इसका परिणाम भी अद्‌भुत और अनपेक्षित था। इसमें लिखना स्वयं उद्‌घाटित हुआ और इसकी शुरुआत एक तरह से बिना रुके होने वाले बहाव की तरह बच्चे के मस्तिष्क से होती है। अपने नन्हे हाथों के द्वारा उन्होंने ब्लैकबोर्डों, फर्शों तथा दीवारों को लिखित शब्दों से ढक दिया और बिना रुके, एक प्रशंसनीय रचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में। यह स्वाभाविक, पर चकित करने वाली प्रक्रिया चार वर्ष और साढ़े चार वर्षों के बच्चों में दिखाई दी।

लेखक को विश्वास है कि यह पुराना अनुभव आज भी उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषकर निरक्षरता के विरुद्ध संघर्ष में, क्योंकि इसमें प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग संभव होता है।

लिखने को उसके वास्तविक तथा सरल परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए, अर्थात् बोली जाने वाली भाषा के साथ उसका सीधा जुड़ाव एक व्यावहारिक कदम है जो

बच्चों के साथ-साथ वयस्कों पर भी समान रूप से लागू होता है। इससे लिखना एक तरह से स्वयं को अभिव्यक्त करने का एक तरीका बन जाता है। इससे इसमें रुचि बढ़ती है और साथ ही इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इस विजय से मिले उत्साह का प्रदर्शन होता है और नई शक्ति की प्राप्ति का हर्ष भी।

इसके प्रथम चरण की समाप्ति के बाद इससे व्यक्ति में लिखने की शक्ति स्थापित होती है। फिर तो यह ताबीज की तरह काम करने लगता है जिससे उसके धारक को संस्कृति के अथाह समुद्र की तरफ झांकने की शक्ति प्राप्त होती है। इसके साथ ही उसके सामने एक विस्तृत नया विश्व खुल जाता है। ऐसी स्थिति में **इस प्रथम चरण वाली अवधि में पुस्तकों, रीडरों और प्राइमरों को काम में नहीं लेना चाहिए क्योंकि इस समय लिखना एक तरह से स्वयं की अभिव्यक्ति का नया तरीका बनकर सामने आता है। यह एक नई प्राप्ति होती है। ऐसे में वर्णमाला एक कुंजी का रूप ले लेती है जिसे भीतर से ही घुमाना होता है।**

वैसे स्वयं संस्कृति लिखने से अलग होती है। कल्पना कीजिए एक ऐसे अशिक्षित व्यक्ति की, जो वर्णमाला के आविष्कार से पूर्व वहां हो और जिसके पास विशाल अनुभव रहा हो और जो नैतिक मूल्यों से संपन्न रहा हो, पर वह आज की सांस्कृतिक विशेषताओं का हिस्सा बन सके, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। बात यह है कि कोई भी अशिक्षित व्यक्ति, चाहे नैतिक दृष्टि से कितना ही महान् क्यों न हो, अपने समय की संस्कृति का पूरा हिस्सा नहीं बन सका।

ये जो दो भिन्न पहलू हैं, उन पर भाषा के बारे में विचार करते समय ध्यान रखा जाना चाहिए क्योंकि इनसे व्यवहार में काफी सहायता मिलती है।

लिखित भाषा का संबंध स्वयं को अभिव्यक्त करने से है। यह एक सरल तंत्र है जो व्यक्तित्व से जोड़ा जाना चाहिए। इसका अलग-अलग हिस्से के रूप में विश्लेषण होना चाहिए और संक्षेप में यह विश्लेषण बड़े काम का सिद्ध होगा।

सुशिक्षित या विद्वान् होने या न होने का वह अर्थ नहीं है जो लिखना जानने या न जानने से निकलता है। दोनों एक ही तरह की चीज नहीं हैं। यह सांस्कृतिक बोध के अज्ञान से भी जुड़ी हुई है।

लिखने का संबंध केवल वर्णमाला से है। प्रकारान्तर से यह बोली गई भाषा और ध्वनि के विश्लेषण से जुड़ी हुई है। सुशिक्षित या विद्वान् या सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न व्यक्ति होने का अर्थ है बाहरी संसार से जोड़ने वाले साहित्य की दृष्टि रखना। इसमें किताबें भी शामिल हैं जो विचारों तथा कल्पनाओं को मूर्त रूप देती हैं। दूसरे शब्दों में यह पढ़ने से संबंधित है।

चार वर्ष की आयु वाले बच्चों के बारे में हुआ अनुभव विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उस समय लिखना एक बड़ा 'विस्फोट' कर सकता है। यह पूर्व में प्राप्त विजय के संबंध में अधिक उपयुक्त है। वास्तव में भाषा का विकास पांच वर्ष की आयु तक होता रहता है और इस अवधि में उनका मस्तिष्क क्रियात्मक चरण में होता है, विशेष रूप से शब्दों से संबंधित प्रत्येक बात को ग्रहण करना चाहता है।

यह वह समय होता है जिसे जीवन की फसल तैयार करने वाला कहा जा सकता है। जैसे फल पक कर तैयार होते हैं, उसी तरह इस आयु में लिखित भाषा की फसल भी तैयार की जा सकती है। जिस तरह फल का पकना केवल उसके बीज और मिट्टी पर निर्भर नहीं करता, अपितु जिस समय वह बोया जाता है उस ऋतु पर भी निर्भर करता है। यही बात बच्चों पर भी लागू होती है और उनके सीखने की आयु पर भी।

लिखने पर एक गहन दृष्टि डालने से यह साफ है कि वह वयस्कों के लिए उतना ही उपयोगी है जितना बच्चों के लिए होता है। क्योंकि उसकी रचना बोली जाने वाली भाषा को वर्णमाला से जोड़ देती है। पर इसके लिए उपयुक्त समय वह होता है जब बोली जाने वाली भाषा पूर्णता तथा प्रवीणता प्राप्त करने की दिशा में होती है और यह कार्य साथ-साथ होता है। यह वह संवेदनशील मनोवैज्ञानिक समय होता है जो प्रकृति ने इस उद्देश्य के लिए बच्चों को दे रखा होता है। इसके लिए लिखित भाषा का विकास तथा शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि वर्णमाला को शब्दों की ध्वनि के संदर्भ में रख कर दोनों भाषाओं का विकास व विस्तार करके उन्हें समृद्ध किया जा सकता है, मानों वे दोनों एक ही हों।

इसके लिए तंत्र की रचना भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। बोली जाने वाली भाषा तो लगातार तुतलाने से शुरू होती है जिससे बोले जाने वाले अंग बराबर कार्य करने लगते हैं। दो वर्ष की आयु में ही यह हलचल शुरू हो जाती है। ऐसे में बुद्धि की प्रेरणा से भाषा विकसित होने लगती है जो नये शब्दों को समाहित करती रहती है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक उसमें प्रवीणता प्राप्त नहीं हो जाती। बच्चे इसे अपने आस-पास के वातावरण और रहने वाले लोगों से सीखते हैं। इसके दो भिन्न चरण होते हैं। पहले चरण में तो बार-बार के अभ्यास से यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इससे बोलने से संबंधित अंग सुचारु रूप से काम करने लगते हैं। दूसरा चरण वह होता है जिसे बौद्धिक चरण भी कह सकते हैं, जिसमें भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है।

दूसरे चरण में ही **वर्णमाला प्रवीणता प्राप्त करने में सहायक बनती है,** ठीक उसी तरह जिस तरह एक वयस्क में संस्कृति की उपलब्धि से बौद्धिक विकास

हो कर वह पूर्णता तक पहुंचता है। यह भी तब होता है जब वह पढ़ना और लिखना सीख लेता है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वर्णमाला और बाद में लिखना आ जाने की योग्यता बच्चे की भाषा को विकसित करने में सहायता देती है। यह वास्तविक सहायता होती है जो प्राकृतिक विकास में सहायक बनती है। यह विकास इस आयु में होता है और बड़ी उत्सुकता से समाहित किया जाता है।

वर्णमाला के जो चिह्न उन्हें (बच्चों को) दिये जाते हैं वे उनके लिए अलग स्वरूप बन जाते हैं और उन्हें काम में लेना भी सरल है। वे अच्छी भाषा सीखने को प्रोत्साहित करते हैं जो पहले तो बिना जाने सीख ली जाती है। इतना ही नहीं, वे इन ध्वनियों को एक ऐसा दिखाई देना वाला आकार देते हैं जो हमेशा आंखों के सामने रहता है।

चल-वर्णमाला एक ऐसा सिखाने योग्य साधन है जिस के द्वारा हाथ भिन्न-भिन्न शब्दों को बना सकता है और उनके मेल से नये तैयार कर सकता है। यह एक कठिन पहेली की तरह है जिसमें टुकड़ों को जोड़ कर उसका हल निकाला जाता है।

इस तरह यह बच्चे को एक बड़ी विजय प्राप्त करने में मार्गदर्शन देती है।

यूं इससे अधिक अद्‌भुत विजय वास्तव में हो भी क्या सकती है!

ये वस्तुनिष्ठ बातें बच्चे को उन सब शब्दों को बनाने में सहायता करती है जो उसके पास हैं और जो दूसरों द्वारा बोले जाते हैं। इस तरह इस सरल बौद्धिक अभ्यास से उसे बोली जाने वाली भाषा को पक्का करने में सहायता मिलती है ताकि उसमें प्रवीणता प्राप्त की जा सके।

इन अभ्यासों का आधार स्पष्टतः शब्दों का विश्लेषण है। उदाहरण के लिए ध्वनि के अनुसार उनका उच्चारण होता है, न कि अक्षरों के बनावटी नामों से। यह एक तरह से पूरा आंतरिक अभ्यास है जो बच्चे को अपनी भाषा के अंगभूत हिस्सों की समीक्षा करने की स्वीकृति देता है। ऐसा बच्चे ने पहले शायद ही किया हो और न वह फिर कभी कर सकता है। ऐसा इन दिखाई देने वाले और चलायमान चिह्नों की कुंजी के बिना संभव नहीं है।

इस तरह बच्चा अपनी भाषा को खोज लेता है। प्रत्येक बार उसका शब्द-निर्माण का प्रयास एक तरह की जांच और उसकी खोज पर ही आधारित होता है। यह खोज उन ध्वनियों के बारे में होती है जिनसे वे शब्द बनते हैं और जिनकी वह पुनरावृत्ति करना चाहता है।

ये अभ्यास अशिक्षित वयस्कों के लिए भी बड़े काम के सिद्ध हो सकते हैं और यह सिद्ध भी हो चुका है कि उनकी भी इनमें बड़ी रुचि होती है। वर्णमाला प्रत्येक के लिए वह कुंजी है जिससे अपनी भाषा की खोज की जा सकती है और जो नई रुचि भी पैदा करती है। केवल इस विश्लेषण के कारण ही रुचि की जागृति नहीं होती जिससे लिखित भाषा के शुद्ध उच्चारण की कठिनाइयों से पार पाने में सहायता मिलती है, अपितु वह इस तथ्य के बारे में भी जानकारी देती है कि वर्णमाला में अक्षरों की संख्या बहुत कम है। पर वे अक्षर चाहे जितने भी कम हों, फिर भी वे पूरी भाषा को प्रत्येक प्रकार से और साथ में प्रत्येक अवसर पर अभिव्यक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक वयस्क को कोई कविता या प्रार्थना कंठस्थ है तो फिर उस कविता या प्रार्थना के सभी शब्दों की पुनः रचना हो सकती है। यह भौचक्का करने वाली बात ही है कि किसी पुस्तकालय की सभी पुस्तकों और अनगिनत समाचार पत्रों के पृष्ठों को भरने वाले सभी समाचार आखिर वर्णमाला के सभी चिह्नों का मिलान मात्र ही हैं। आस-पास के वातावरण में व बातचीत में सुनी गई सभी बातें और बेतार के तार से सम्प्रेषित सभी भाषण अंततः वर्णमाला के उन थोड़े-से अक्षरों द्वारा प्रस्तुत ध्वनियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्हें जोड़कर ही तो बनाये जाते हैं। इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि इस जानकारी के मिलने पर कोई भी अशिक्षित अपने को ऊपर उठा हुआ अनुभव कर सकता है। उसके लिए यह आलोक और नई प्रेरणा के समान सिद्ध हो सकता है।

केवल ये बातें ही ऐसी नहीं हैं जो बच्चे को लुभाती हैं, अपितु उसमें वही आवश्यक ऊर्जा भी काम करती है। वर्णमाला के साथ उसका अभ्यास उसकी भावनाओं को ऊंचे स्तर तक ले जाता है क्योंकि उसमें भाषा के विकास की अवधि के समय रही जागृति की ज्वाला नई रचना के प्रयास को प्रोत्साहन देती रहती है।

पहले वाले स्कूलों में बच्चों को उन कार्डबोर्ड के टुकड़ों को, जिन पर वर्णमाला के अक्षर लिखे होते हैं, हवा में लहराते देखे जाते हैं मानों वे कोई पताकाएं हों। परन्तु वे इस बात को भी बताते हैं कि उनके उत्साहवर्द्धक नारों के पीछे उनकी भावनाएं भी दिखाई देती हैं।

पुस्तकों में इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि बच्चे अपने में तल्लीन होकर जैसे कि वे ध्यानमग्न संत हों, धीरे-धीरे शब्दों का अपने ढंग से विश्लेषण करते हैं और उनको उसी ढंग से उच्चारित भी करते रहते हैं। ऐसा करते समय वे अक्षरों का नाम न लेकर व्यक्तिगत तौर पर ध्वनि निकालते हैं।

एक बार एक पिता ने अपने बच्चे से पूछा कि स्कूलों में कौन जाता है? और तुम्हारा आज का दिन अच्छा रहा क्या? इस पर बच्चे ने जोर देकर कहा, अच्छा, अच्छा।

उसे एक शब्द ने अधिक आकर्षित किया और तुरन्त उसका विश्लेषण करते हुए उसमें शामिल ध्वनियों को अलग करते हुए वह उसका उच्चारण करता है।

चल-वर्णमाला का अभ्यास पूरी भाषा को गति देता है। इससे सचमुच में बौद्धिक प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है।

अतएव इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि सभी अभ्यासों में केवल हाथ ही नहीं लिखते हैं। बच्चा एक कठिन व लम्बा शब्द भी उसे बिना कभी लिखे या बिना हाथ में कलम लिये बना सकता है।

शब्दों को जोड़ने का अभ्यास तो लिखने की दिशा में एक तैयारी मात्र है। फिर भी इस अभ्यास में पढ़ने और लिखने को क्रियाशील रूप से शामिल किया जाता है। लिखना इसलिए शामिल किया गया है क्योंकि अभ्यास का परिणाम लिखे शब्दों के उद्देश्यपरक रूप में सामने आता है और पढ़ने के अभ्यास के पीछे कारण यह है कि जब कोई इन शब्दों की तरफ देखता है और इनकी व्याख्या करता है तो उसे पढ़ना होता है। इन निरंतर किये जाने वाले अभ्यासों से बोले जाने वाले तथा लिखे जाने वाले शब्द बनते हैं। इससे न केवल लिखने की तैयारी का रास्ता खुलता है, अपितु उनके शुद्ध उच्चारण का अभ्यास भी होता है।

सामान्यतया स्कूलों में जब बच्चे लिखना सीखना शुरू करते हैं तो उस समय बहुधा गलत उच्चारण ही अधिक होता है। अमेरिका के सामान्य स्कूलों में यह कठिनाई अधिक सामने आती है। इसको वहां **चल-वर्णमाला** की सहायता से शब्द-निर्माण अभ्यासों के द्वारा पूरी तरह से हल कर दिया गया है।

इससे बिना पुस्तकों के पढ़ने का और सचमुच में बिना लिखे लिखने का रास्ता खुलता है। इस तरह लिखित भाषा की प्राप्ति उसके रचनातंत्र से होती है।

वास्तव में लिखना, उदाहरण के लिए वर्णमाला के अक्षरों को कलम की सहायता से लिखना, तो केवल कार्यकारी प्रक्रिया है। यह लिखने के बौद्धिक प्रयास से इतना भिन्न है कि लिखित भाषा को तो टाइपराइटर तथा छापाखानों में भी तैयार किया जा सकता है। **हाथ तो एक तरह की सजीव मशीन है।** इसकी क्रियाओं को इस तरह संचालित किया जाता है ताकि बुद्धि या उससे मिली सूचना के अनुसार सेवा दे सके। यह तैयारी अलग अभ्यास द्वारा की जाती है ताकि दृढ़ता के साथ आवश्यक सामंजस्य बैठाया जा सके।

बुद्धि और कार्यकारी अंग—यहां पर व्यवहार में दूसरा भेद सामने आता है जिसके लिए अलग प्रकार की तैयारी संबंधी प्रक्रियाएं अपनानी पड़ती हैं।

लिखना सीखते समय यदि लिखना सीखने की शुरुआत की जाती है तो अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं, हालांकि उनका निराकरण करना कठिन नहीं है। पर यह तो मानना ही होगा कि निस्सन्देह इसके लिए किये जा रहे मानसिक प्रयासों में बाधा तो आती ही है। यह ऐसा ही है, जैसे एक व्यक्ति, जो बुद्धिमान् है और कई तरह की कल्पनाओं से भरपूर है और उन्हें अपने भाषण में व्यक्त भी करना चाह रहा हो, फिर भी उसके पास उसे व्यक्त करने के लिए वैसी भाषा नहीं है।

सामान्य स्कूलों में लिखना सिखाने के लिए वही प्रक्रिया अपनाई जाती है जो गूंगों तथा बहरों को बोलना सिखाने के प्रयास के रूप में की जाती है। यह प्रयास केवल बोलने की प्रक्रियाओं को उत्तेजना देने के लिए होता है। इसी तरह का प्रयास हाथ से लिखने के लिए भी किया जाता है जिसमें उसे लिखने के लिए तैयार किया जाता है।

उदाहरण के लिए एक मजदूर को लेते हैं जिसके कठोर हाथों में एक सुकोमल कलम या पेंसिल दे दी जाती है ताकि वह लिखना सीख सके। उसके लिए यह अभ्यास कठिन होने के कारण उसे न तो स्वीकार्य होता है और न ही प्रोत्साहन देने वाला होता है। ऐसे में कलम टूट सकती है और उसका यह प्रशिक्षण उसे नीचा भी दिखा सकता है। इस तरह के आधे-अधूरे परिणाम उसकी सद्भावना के लिए परीक्षा की एक घड़ी बन जाते हैं।

प्राथमिक विद्यालयों में वास्तव में कलम एक तरह से बच्चों के लिए यातना देने का साधन बन जाती है और लिखना एक तरह का कठोर श्रम, जो ऊपर से थोपा जाता है और जिसके साथ निरंतर दंड की व्यवस्था भी रहती है।

वैसे हाथों को भी तैयार होने के लिए समय दिया जाना चाहिए। वास्तव में लिखना शुरू करने के पहले कुछ अन्य उपायों की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए कुछ अभ्यास कराये जाने चाहिए जो शारीरिक व्यायाम की तरह हों। यह उसी तरह के अभ्यास हैं जो शरीर की मांसपेशियों को स्वस्थ रखने के लिए कराये जाते हैं।

हाथ तो एक बाहरी अंग है जिसकी सक्रियता को शिक्षा प्रभावित करती है या कर सकती है। वे तो दिखाई देने वाले सहज अंग हैं। वे बोली जाने वाली भाषा के रचनातंत्र की तरह नहीं होते जो छिपे रहते हैं, यथा जीभ तथा अन्य छिपे अंग। इनकी गतिविधियां भी उसी तरह की होती हैं।

लिखने वाले हाथों को भी कुछ सामंजस्य बैठाने पड़ते हैं जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। इन्हीं हाथों को लिखने वाले उपकरण अपनी अंगुलियों के बीच पकड़ने पड़ते हैं। इसी तरह कलम भी इन्हीं हाथों में होती है। वर्णमाला के अक्षर भी इन्हें ही अच्छे ढंग से लघु रूप में लिखने होते हैं। यह सब कार्य हलके पर दृढ़ हाथों से ही संपन्न होते हैं।

ये अलग-अलग गतिविधियां एक के बाद एक भिन्न-भिन्न तरह के अभ्यासों से ही चालू रखी जा सकती हैं।

आज के विद्यालयों में बच्चों के साथ में वयस्कों से भी विविध प्रकार के शारीरिक (हाथों का) काम कराने का सोचा जा सकता है। इनसे भी ऊपर वाली बातें पूरी की जा सकती हैं या उनकी तैयारी की जा सकती है।

जब **चल-आकारों** को इन अभ्यासों में काम में लिया जाता है तब बच्चों के हाथ उन सभी क्रियाओं के लिए तैयार हो जाते हैं जो लिखने के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। यह एक तरह से लिखना सिखाने का अप्रत्यक्ष तरीका है। इसके बाद तो केवल लिखने के साधनों के बारे में ठीक संकेत देना ही शेष रह जाता है।

इनको यथार्थ रूप में संचालित करने से बच्चों में नई रुचि पैदा होती है। प्रारंभिक बचपन के महत्त्वपूर्ण काल में स्वयं प्रकृति बच्चों को हाथों की गतिविधियों में सामंजस्य बैठाने के लिए तैयार करती है। यह उनकी उन प्रवृत्तियों में देखा जा सकता है जब वे प्रत्येक वस्तु को छूने का प्रयास करते हैं और उन्हें अपने हाथों में लेने की कोशिश भी करते हैं। इतना ही नहीं, वे उनसे खेलते भी रहते हैं। इस 'खेल-युग' में बच्चे का हाथ एक तरह से अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, लिखने की तैयारी में लग जाता है। उस युग में बच्चे में चित्र बनाने की सहज प्रवृत्ति होती है। इस नये 'हाथ' का बड़ा लाभ, जो प्राकृतिक ऊर्जा का परिणाम होता है, बाद में न तो वयस्कों में और न छः वर्ष की आयु वाले बच्चों में ही पाया जाता है। इन प्रवृत्तियों से, जो संवेदनशील काल (खेल युग, वह युग जिसमें हर वस्तु को छूने की इच्छा होती है) की देन होती है, बाद में बच्चा बाहर आ जाता है। फिर तो वह हाथों की गतिविधियों को अपने तरीके से संचालित करता है।

इस मामले में एक मजदूर की स्थिति अलग ही होती है क्योंकि जब वह लिखना सीखता है तो उसे सबसे पहले श्रम की अपनी आदत को मिटाना पड़ता है, उसके हाथ जिसके अभ्यस्त हो चुके होते हैं।

संक्षेप में इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए यह उपयुक्त रहेगा कि अशिक्षित वयस्क के हाथों को भी किसी तरह के शारीरिक व्यायाम का अभ्यास कराया जाना चाहिए, विशेष रूप से रेखाचित्र वाला अभ्यास। यह भले ही अप्रत्यक्ष रूप में ही

क्यों न हो, पर ये रेखाचित्र बनाने की मनमानी छूट नहीं होनी चाहिए। उन्हें कुछ माध्यमों की सहायता से सार रूप में क्रियान्वित किया जाना चाहिए ताकि हाथों को मार्गदर्शन मिले। इससे उसे दिखाई देने वाले परिणाम मिलेंगे। यह तभी संभव है जब वे सजावटी चित्र बनाने में सफल होंगे।

ऐसे में हाथों के तंत्र को तैयार करने के लिए यह एक तरह का व्यायाम ही होगा। लक्ष्य की दृष्टि से इसकी तुलना लिखने के लिए किये जाने वाले बौद्धिक प्रयासों से की जा सकती है जो **चल-वर्णमाला** के माध्यम से क्रियान्वित होते हैं। मस्तिष्क और हाथ को अलग-अलग तरीके से तैयार किया जाता है ताकि लिखित भाषा के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सके। यह अलग बात है कि एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी अलग-अलग मार्ग पर चलना होता है।

अंत में एक ही काम बाकी रह जाता है, अर्थात् वर्णमाला के चिह्नों को हाथों के द्वारा प्रभावशाली ढंग से कागज पर उतारना, जिन्हें आंखें पहले से ही पहचानती हैं।

विद्यालयों में सामान्यतया उन तरीकों को काम में लिया जाता है जिनमें उन अक्षरों की नकल करनी होती है और जो पहले से ही उतारे हुए होते हैं। वे बच्चों की आंखों के सामने रहते हैं नमूने के रूप में। वे भले ही तार्किक लगते हों, लेकिन वास्तव में वे उद्देश्यहीन होते हैं क्योंकि हाथों की गतिविधियों के साथ आंखों का कोई सीधा संबंध नहीं होता है। केवल देखने मात्र से ही हाथों को लिखने में पर्याप्त सहायता थोड़े ही मिल जाती है? इच्छाशक्ति तभी सक्रिय होती है जब नमूने की तरफ देखते हुए लिखने का प्रयास होता है।

बोली जाने वाली भाषा के मामले में बात दूसरी ही होती है। इसमें सुनने तथा स्पष्ट उच्चारण के बीच निकट का संबंध होता है जो मानव-जाति की एक विशेषता है। लिखने के मामले में उसकी नकल उतारना एक कृत्रिम प्रयास होता है जिससे अपूर्णता, निरुत्साह आदि का एक क्रम-सा चल पड़ता है।

अब हाथ को सीधे वर्णमाला के चिह्नों को उतारने के लिए तैयार किया जा सकता है। इसमें युक्ति के साथ मांसपेशियों की सहायता ली जा सकती है, न कि उनको केवल दृश्य बना कर रखने से। इसके लिए अक्षरों के कट-आउट बच्चों के लिए तैयार किये गये हैं जिन्हें कागज पर तैयार करके चिकने पुट्ठे पर चिपकाया गया है। बच्चे उन्हें बड़े आकार में तैयार करते हैं और **चल-वर्णमाला** के अक्षरों को नये सिरे से लिखते हैं। बच्चों को यह भी सिखाया जाता है कि वे उस तरह लिखें जैसा कि उन्हें दर्शाया गया है।

यह एक बड़ी ही सीधी प्रक्रिया है जिसके अद्भुत परिणाम आये हैं।

इस तरह बच्चे अपने हाथ से अक्षरों को स्वरूप देते हैं। जब वे लिखना शुरू करते हैं तब स्वयंस्फूर्त तरीके से उनकी कलम प्रवीणता की तरफ मुड़ जाती है। यही क्यों, सभी बच्चे एक ही तरह से लिखते हैं क्योंकि वे एक-से अक्षरों को उतारते हैं।

अशिक्षित मजदूरों के मामले में भी यही प्रक्रिया अपनाई जा सकती है। कोई भी मजदूर अपनी अंगुलियों से ऐसे अक्षरों को उतार सकता है। इस तरह वह सामान्य रेखाचित्रों की सभी बातों का अनुसरण कर सकता है जो वर्णमाला के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं।

दो शताब्दी पूर्व एक कलाकार ने वेटिकन सिटी (इटली) में ऐसा ही तरीका अपना कर वयस्कों को लिखना सिखाया था। उन दिनों में पुस्तकें हाथों से लिखी जाती थीं, जो चमड़े की होती थीं और कला का सुंदर नमूना थीं। उस समय सुंदर लेखन एक आवश्यकता होती थी। फिर भी विशेषज्ञों तक के लिए लेखन में निपुणता प्राप्त करना सरल नहीं था। फिर उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म विस्तार तो और भी कठिन था।

ऐसे में कलाकार चाहता था कि उसके विद्यार्थी नये नमूने प्रस्तुत करें, बजाय पुरानों की नकल करने के। ऐसे में वह उनको शीघ्र प्रशिक्षण देने में सफल रहा। अन्यथा उसे प्रशिक्षण देने में बहुत लम्बा समय लग गया होता और फिर भी वह इसमें सफल न हुआ होता, ऐसा भी संभव था। यह तो बहुत सरल बात है और व्यावहारिक और तर्कसंगत भी।

और जब सब-कुछ तैयार है तब हाथों से प्रभावी ढंग से लिखना संभव है। यदि मस्तिष्क द्वारा शब्द-निर्माण का यह अभ्यास कर लिया गया है तब तो लिखना यकायक एक 'विस्फोट' का रूप ले सकता है और शब्दों के निर्माण को तुरन्त पूरा भी कर सकता है। यही क्यों, एक पूरा वाक्य भी चामत्कारिक ढंग से लिखा जा सकता है और उसे प्रकृति का नया उपहार माना जा सकता है।

ऐसा उन विद्यार्थियों में होता है जो चार वर्ष के होते हैं और लेखन के लिए प्रसिद्ध 'विस्फोट' वाली स्थिति की अवस्था में होते हैं। वे उन आकृतियों को, जिन्हें वे छू चुके होते हैं, पुनः बनाते हैं। इस तरह वे अच्छा लिखना शुरू कर देते हैं। वे लिखते समय भूलें नहीं करते और उनकी वर्तनी भी सही होती है। वे इससे पहले सीखे चरण में भी ऐसी निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। वे अपनी योग्यता से इसे स्वतंत्र रूप से सीख लेते हैं।

जिस शीघ्रता से बच्चे लिखना सीख लेते हैं, वह एक अचम्भे की बात कही जा सकती है। इस मामले में लेखक का अनुभव यहां दिया जा रहा है। उनके प्रथम प्रयोग में बच्चों ने प्रथम बार अक्टूबर में वर्णमाला सीखना शुरू किया और

दिसम्बर के अंत तक उन्होंने अपने शुभचिंतकों को पत्र लिख दिये। इससे पहले वे ब्लैकबोर्ड पर आगन्तुकों का अभिवादन करने वाली अपनी भावना लिखकर व्यक्त कर चुके थे।

यहां यह स्मरण रखना होगा कि बच्चों के हाथों को पहले ही अप्रत्यक्ष रूप से तैयार कर लिया गया था। चूंकि ये प्रयोग इटालियन भाषा में किये गये थे और यह भाषा पूरी तरह से बोली पर (ध्वनि पर) आधारित है और वहां की वर्णमाला में केवल 21 ही संकेत (अक्षर) हैं।

जो भाषाएं ध्वनि वाली नहीं होती हैं उनमें थोड़ा अधिक समय लग सकता है, पर तरीका वही है। उन देशों में, जहां भाषाएं ऐसी हैं, जैसे अंग्रेजी, डच एवं जर्मन, वहां बच्चे छः वर्ष की आयु में पढ़ना और लिखना सीख गये थे।

जहां तक पढ़ने का प्रश्न है, उसमें पहले से ही **चल-वर्णमाला** से अभ्यास कराया जाता है। जो भाषाएं पूर्ण रूप से ध्वनि पर आधारित हैं उनमें तो उन्हें बिना किसी और सहायता के विकसित किया जा सकता है। यह तभी संभव है जब लेखन के रहस्य जानने की तीव्र इच्छा सीखने वाले में जाग्रत हो।

रविवार को अपने माता-पिता के साथ जा रहे बच्चे दुकानों के सामने अधिक समय तक रुककर उन पर लिखे नामों को पढ़ना चाहेंगे, चाहे वे मुद्रित ही क्यों न हों, जबकि उन्होंने **चलित वर्णमाला** के अक्षर और वह भी जल्दी में लिखे गये क्यों न सीखे हों।

ऐसे में उनका कार्य वास्तव में व्याख्या करने जैसा होता है, जैसा कि प्राचीन लोगों द्वारा लिखी गई बातों का आशय जानना होता है। यह काम बिना गहरी रुचि के संभव नहीं है।

इस तरह शुरू किये गये पहले के विद्यालयों में ही बच्चे आये जिनके माता-पिता निरक्षर थे और ऐसे में उनके घरों में पुस्तकें थी ही नहीं। एक बच्चा तो मुड़े हुए गंदे कागज का ही एक टुकड़ा लाया जो कह रहा हो कि बताइये यह क्या है? उसका उत्तर दिया गया कि यह तो गंदे कागज का एक टुकड़ा है। 'नहीं, यह तो एक कहानी है।' ऐसे में दूसरे बच्चे बड़ी उत्सुकता के साथ उसके चारों ओर एकत्रित हुए और उस अद्भुत सत्य को मानने को विवश हुए।

इसके बाद उन्होंने पुस्तकों को ढूंढ़ा और मिलने पर उनके पृष्ठों को फाड़ा और अपने घर ले गये। यह अनुभव बताता है कि पढ़ना सीखने के लिए मानसिक प्रवृत्ति अधिक काम करती है, बजाय उसे सिखाने के।

पांच वर्ष के बच्चे पूरी पुस्तकें पढ़ लेते हैं और यह पढ़ना उन्हें बड़ा संतोष देता है और साथ में उनका मनोरंजन भी करता है। यह वैसा ही है जैसे कि बड़ों द्वारा उनके मनोरंजन के लिए सुनाई गई परियों की कथाएं तथा समाचार देते हैं।

बच्चे पुस्तकों में रुचि भी तभी दिखाते हैं जब वे उन्हें पढ़ना सीख लेते हैं। यह इतना स्पष्ट है कि उसे दुहराने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

सामान्य विद्यालयों में हालांकि पुस्तकों से ही सीधे पढ़ना सिखाया जाता है, जबकि उन्हें पढ़ना सिखाने के लिए यह तरीका ठीक नहीं है। इस संबंध में तैयार पुस्तकें पुराने आग्रहों के आधार पर तैयार की जाती हैं जिनमें काल्पनिक कठिनाइयां ही अधिक सामने आती हैं, जिन पर विजय पानी होती है।

प्रारंभ में छोटे शब्दों को लिया जाता है और बाद में लम्बे शब्दों को। इस तरह प्रारंभ में सरल पाठ्यक्रम और फिर कठिन को लिया जाता है। आगे भी ऐसा ही चलता रहता है। दूसरे शब्दों में बच्चे के सामने हर मोड़ पर बाधा रखी जाती है।

लेकिन वास्तव में ये कठिनाइयां होती नहीं हैं। **अपनी मातृभाषा में बच्चे पहले ही छोटे और लम्बे शब्द जान लेते हैं** और सभी तरह के पाठ्यक्रम भी। ऐसे भी, जो आवश्यक हैं। वे यह कि ध्वनि का विश्लेषण करके उसके समकक्ष वर्णमाला के चिह्न को पा लेना। बस, इतना ही करना होता है। यह उनको कठिन लग सकता है, जो इस सत्य से अपरिचित हैं और उसे समझ नहीं पाते या उसे समझना नहीं चाहते। बात यह है कि पढ़ने का उन कठिनाइयों से पार पाने के लिए उपयोग नहीं होना चाहिए जिनका पहले ही उल्लेख हो चुका है।

पढ़ना एक तरह से लिखित भाषा का प्रवेशद्वार है जो संस्कृति के क्षेत्र में ले जाता है। यह लिखने की तरह स्वयं को अभिव्यक्त करने का माध्यम भी नहीं है। इसके विपरीत इसका उद्देश्य वर्णमाला के चिह्नों के द्वारा उन शब्दों तथा विचारों का, जो उनके द्वारा कहे गये हैं, जिनसे हम मौन रूप में वार्तालाप करते हैं, संग्रह करना और उनका पुनः निर्माण करना है।

पढ़ने के लिए भी पहले से तैयारी करने की आवश्यकता रहती है।

यहां उन सब माध्यमों का विस्तार से वर्णन करना संभव नहीं है जिन्हें तैयारी के समय काम में लिया जाता है। यहां यह दुहराना ही पर्याप्त है कि पढ़ने की शुरुआत पुस्तकों से नहीं होती। प्रारंभ में ऐसे तरीके काम में लिये जा सकते हैं जिन पर परिचित चीजों के नाम लिखे होते हैं, भले ही वे कागज के टुकड़ों पर ही क्यों न हों। ऐसे में बच्चे को उन शब्दों का, जिनको वह पढ़ता है, अर्थ समझना पड़ता है और फिर वह उसे उस चीज के सामने रख देता है जिसका

संकेत वह शब्द देता है। दूसरे चरण में छोटे वाक्य दिये जाते हैं जो उन प्रवृत्तियों की तरफ इंगित करते हैं जिन्हें क्रियान्वित करना होता है। नामों का दिया जाना कथन के उस विशेष भाग को बताता है जिसे संज्ञा कहते हैं, जबकि दूसरे भाग को क्रिया के रूप में जाना जाता है। इस तरह दोनों अलग रूप से बताये जाते हैं। ऐसे में पढ़ने की प्रथम प्रक्रिया संबंधी अभ्यास को इस तरह तैयार किया जा सकता है जो भाषा के व्याकरण संबंधी अध्ययन की शुरुआत कहा जा सकता है।

दो वर्ष का बच्चा भी न केवल शब्दों को जानता है, अपितु उनके मेल से बनाये गये अन्य शब्दों को भी, जो विचारों को व्यक्त करने के लिए आवश्यक होते हैं। केवल शब्द ही अर्थ को पूरी तरह अभिव्यक्ति नहीं देते हैं। एक निश्चित प्रक्रिया में उनको रखा जाना भी उतना ही आवश्यक है।

प्रत्येक भाषा का अपना विशेष क्रम होता है और यह क्रम उसकी संपूर्णता को, उसकी प्रकृति को सम्प्रेषित करता है, प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचाता है जबकि उसका जीवन केवल दो वर्ष का होता है।

जिस तरह शब्दों का विश्लेषण उसके ध्वनि-घटकों और वर्णमाला वाले शब्दों के निर्माण को बताता है और इससे बच्चे को अपनी भाषा को समझने में सहायता करता है, ठीक उसी तरह कथन या भाषण पर आधारित पढ़ना भी बच्चे को व्याकरण संबंधी ज्ञान देता है और वह व्याकरण संबंधी बनावट को समझने लगता है। इसके साथ ही कथन के प्रत्येक भाग के कार्य तथा वाक्य में उसके स्थान को जानने लगता है।

इस तरह व्याकरण का रचनात्मक कार्य मिल जाता है और यह उसी क्रम में होता है जैसा कि विश्लेषण के द्वारा होता है। पर ऐसा सामान्य तरीकों में नहीं होता जिनमें एक तरह की चीर-फाड़ या कथन के टुकड़े-टुकड़े करके उनका विश्लेषण किया जाता है।

व्याकरण पढ़ाने के छोटे-छोटे तरीके न केवल संक्षिप्त होते हैं, अपितु सरल व स्पष्ट और साथ ही मनोरंजक भी। विशेष रूप से ये तेज प्रवृत्तियों वाले होते हैं, न केवल हाथों से, अपितु पूरे शरीर द्वारा संचालित होते हैं। ऐसी सक्रिय व्याकरण संबंधी पढ़ाई वाले अभ्यास से उन कार्यों तथा खेलों का विकास भी संभव है जो भाषा की खोज में सहायक बनते हैं अर्थात् आत्म-अभिव्यक्ति के जो तरीके अनजाने में सीख लिये गये हैं, उनकी भी जानकारी होने लगती है।

भाषा की खोज—इसकी शुरुआत तभी हो जाती है जब बच्चे के सामने यह बात आ जाती है। फिर यह बात तब आगे बढ़ती है जब वह आकर्षक व व्यावहारिक अभ्यासों को, जो पढ़ने से जुड़े होते हैं, जानने लगता है।

चूंकि पढ़ना आंखों के द्वारा होता है, अतः वाक्य मोटे रूप में लिखे जाते हैं और बहुधा चमकीले रंगों में, जिससे वे और आकर्षक बनते हैं। इतना ही नहीं, कथन के अलग-अलग भाग अलग-अलग रंगों में भी लिख दिये जाते हैं। यह पढ़ने की प्रक्रिया को सुगम बनाता है। साथ ही कथन के अलग-अलग भागों को स्पष्टता प्रदान करता है।

इस अवस्था में बच्चा अपनी व्याकरण संबंधी भूलों को सुधारने की स्थिति में होता है और उसकी इस मामले में सहायता की जानी चाहिए। यह ठीक उसी प्रकार है जैसी कि उससे पहले वाली अवधि में **चल-वर्णमाला** के द्वारा शब्द-निर्माण वाले अभ्यास बच्चे की वर्तनी को सुधारने में सहायता कर चुके होते हैं।

इन अनुभवों के द्वारा वे तथ्य उद्घाटित हुए हैं जिन्हें वे लोग समझने में समर्थ नहीं होते जो इस काम को तथा उसके तौर-तरीकों में गहरी पैठ नहीं बना पाये हैं। उदाहरण के लिए यह तथ्य कि इन अभ्यासों में निरंतर प्रगति नहीं होती है।

ये सब अभ्यास एक साथ चलते हैं। जो पहले लिये जा चुके हैं उन्हें भी कई बार फिर ले लिया जाता है। जिन्हें सामान्य विद्यालयों में कठिन समझ लिया जाता है उन अभ्यासों को पहले लिया जा सकता है, बजाय उनके, जिन्हें सरल मान लिया गया है। ये सब एक ही समय में क्रमवार लिये जा सकते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक पांच वर्ष का बच्चा, जो पूरी पुस्तक पढ़ लेता है, पुनः उन व्याकरण संबंधी पढ़े जाने वाले अभ्यासों तथा उनसे जुड़े हुए खेलों की तरफ लौट आये और उनमें उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे।

इस तरह पढ़ना संस्कृति के क्षेत्र में सीधे प्रवेश देता है क्योंकि ये अभ्यास केवल पढ़ने तक ही सीमित नहीं रह जाते, अपितु अपनी भाषा के अध्ययन और उसके ज्ञान की प्रगति का एक हिस्सा बन जाते हैं। प्रखर विकास की इस प्रक्रिया में उन व्याकरण संबंधी सभी कठिनाइयों को लिया जाता है और उनका निराकरण भी किया जाता है। यही क्यों, शब्दों के वे थोड़े-से परिवर्तन भी, ताकि वे अभिव्यक्ति को विस्तार दे सकें, खोज के दिलचस्प विषय बन जाते हैं, जैसे उपसर्ग, प्रत्यय, शब्दों का रूप आदि। क्रिया को विविध रूप देना तो एक तरह से दार्शनिक विश्लेषण बन जाता है जो इस समझ को आगे बढ़ाने में सहायक बनता है कि वाक्य में क्रिया उस आवाज का प्रतिनिधित्व करती है जो कार्य की बात करता है। पर यह बोलने वाले के द्वारा किये जाने वाले किसी प्रभावी कार्य का संकेत भी नहीं है। क्रिया पर किया गया यह चिंतन समय के विभिन्न अवसरों पर जाग्रत मत को बताता है। अन्यथा क्रिया के अव्यवस्थित

रूपों को सीखना कठिन है, हालांकि वे बच्चे द्वारा बोली गई भाषा में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। ऐसे में उन्हें यह खोजने का प्रश्न बाकी रहता है कि वे 'अव्यवस्थित' हैं।

जब किसी विदेशी भाषा को सीखना होता है तो यह और भी कठिन हो जाता है क्योंकि उसमें सब-कुछ नया सीखना होता है।

लेकिन **अपनी मातृभाषा के व्याकरण को सामान्य विद्यालयों में भी नहीं सिखाया जाता है क्या?** वहां वास्तव में अपनी भाषा को भी ऐसे पढ़ाया जाता है मानों वह कोई विदेशी भाषा हो।

इस तरह दैवी और निर्माण के रहस्य वाले काम और प्रकृति के महान् चमत्कार को भुला दिया जाता है और उसकी अनदेखी भी की जाती है।

* * * * *

इस बात को सरलता से समझा जा सकता है कि व्याकरण संबंधी सीखे जाने वाले ये अभ्यास अपनी सरलता और स्पष्टता के कारण निरक्षरों के लिए भी उतने ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

अन्यथा उनको पढ़ना सीखने के लिए उन्हें पहले पुस्तकों में लिखे को समझने के प्रयास करने होते हैं। इसमें कोई आकर्षण नहीं होता क्योंकि वे एक ही तरह की छपाई वाले होते हैं, इसलिए नीरस लगते हैं। उनको सीखने के लिए दो अलग-अलग तरह की वर्णमालाएं, एक लिखित तो दूसरी मुद्रित, एक ही समय में सीखनी पड़ती है या उनकी जानकारी चाहिए। यह एक तरह की अतिरिक्त कठिनाई सिद्ध होती है।

किसी भाषा की व्याकरण संबंधी खोज न केवल पढ़ने में सहायक होती है, अपितु उत्प्रेरक संतोष भी देती है कि वह उस भाषा को जानता है जो उसे पहले से ही प्राप्त है। दूसरी तरफ पुस्तकों का पढ़ना हमें विवश करता है उन विचारों पर ध्यान केन्द्रित करने को, जो बाहर से आते हैं।

इसके अतिरिक्त व्यवहार में, यह कम ही संभव हो पाता है, ऐसे शिक्षकों को खोज लेना जो निरक्षर वयस्कों के समूह को पढ़ाने को तैयार हो जायें और व्याकरण की पूरी जानकारी भी रखते हों। इस मामले में जो सामग्री तैयार की जाती है और काम में ली जाती है, ऐसे शिक्षकों की सहायता कर भी सकती है। इससे शिक्षकों के लिए पढ़ाना भी सुगम हो जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद में ब्रिटेन में किये गये एक प्रयोग के बारे में एक शिक्षक ने कहा, 'मुझे उस समय परेशानी हुई जब मुझे उन चीजों की जानकारी दी

गई जो मुझे करनी थी। लेकिन मुझे दिये गये उपकरणों ने मेरी कमियों को पूरा कर दिया। तब कक्षा सचमुच में व्याकरण का कारखाना बन गई, जिसमें सारे श्रमिक व्यस्त थे और प्रसन्नचित्त भी।'

* * * * *

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति को स्वयं को पढ़ना-लिखना सीखने के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। इससे भ्रम उत्पन्न होता है।

पांच वर्ष का बच्चा संस्कृतियुक्त है, इसलिए नहीं कि वह लिखना-पढ़ना जानता है, अपितु इसलिए कि वह बुद्धिमान् है और उसने कई चीजें सीख ली हैं।

वास्तव में बच्चे छः वर्ष की आयु में जीवविज्ञान, भूगोल, गणित आदि का अच्छा और विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि वे बहुत-सी चीजों के सीधे संपर्क में आते हैं और उन्हें देखते भी हैं। साथ ही दक्षता से इनका उपयोग भी करते हैं।

लेकिन यह एक अलग विषय है। यहां सिर्फ लोगों में फैली निरक्षरता को मिटाने की बात को ही लिया जाना है।

संस्कृति को बोले गये शब्द के द्वारा सम्प्रेषित किया जा सकता है। साथ ही रेडियो और रिकार्ड भी इसके माध्यम हैं। इसमें मानचित्रों तथा फिल्मों की सहायता भी ली जा सकती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बच्चा संस्कृति की सीख स्वयं ही प्राप्त करता है। इसके लिए उसे अपने मस्तिष्क से प्रेरणा मिलती है जो उसके विकास के नियमों से संचालित होता है। ये नियम बताते हैं कि बच्चा अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर संस्कृति को आत्मसात् करता है। इनमें मनोरंजक अभ्यासों की पुनरावृत्ति भी शामिल हैं। ये अभ्यास हाथों के योगदान से सक्रियता से जुड़े हुए हैं। यह वही अंग है जो बुद्धि के विकास में सहयोग करता है। ❑